



खिलती कलियां
मुस्कुराते फूल

पाण्डित प्रवा सुनि श्री पद्मसागरजी म
ने वा कमलो ने
देवेन्द्र सुनि
दीपावली-

मुनिराज श्री पद्मसागरजीना
शिष्य मुनि अरुणोदयसागर

खिलती कलियां
मुसकराते फूल

खिलती कलियाँ | मुस्कराते फूल

लेखक
राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता
श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य
देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
पदराडा

श्री तारक गुरु-ग्रन्थमाला का ८ वाँ पुष्प

पुस्तक : खिलती कलियाँ, मुस्कराते फूल

लेखक : देवेन्द्रमुनि शास्त्री

सम्पादक : श्रीचन्द्र सुरांना 'सरस'

प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
पदराडा जि० उदयपुर (राजस्थान)

प्रथम बार : २ अक्टूबर १९७०

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

मुद्रक : रामनारायण मेड़तवाल,
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मंडी, आगरा-२

समर्पण

जिनकी प्रबल प्रेरणा और मार्गदर्शन ने
मुझे लिखने को उत्साहित किया,
उन्हीं परम श्रद्धेय सद्गुरुवय
राजस्थानकेसरी पण्डितप्रवर
श्री पुष्कर मुनि जी म० के
कर कमलों में

—देवेन्द्रमुनि



प्रकाशकीय-प्रकाश

अपने चिन्तनशील पाठकों के कर-कमलों में 'खिलती कलियां, मुस्कराते फूल' पुस्तक समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता है। यह अपनी शैली की एक अनूठी पुस्तक है। भाव-भाषा-शैली सभी दृष्टि से यह नवीनता लिए हुए है। इसमें केवल रूपक और कहानियाँ ही नहीं हैं, और न चिंतन सूत्र ही हैं, अपितु दोनों का मणिकांचन संयोग है।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का महान् सौभाग्य है कि देवेन्द्र मुनिजी जैसे समर्थ साहित्यकार की लेखनी का मधुर प्रसाद उसे समय-समय पर मिलता रहा है और भविष्य में सदा मिलता रहेगा यही शुभाषा है ।

दि० १७-६-६७ को पालघर (महाराष्ट्र) में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता पं० प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने पुनीत मुनि जी को दीक्षा दी, दि० २३-७-६७ को विरार में पुनीत मुनि जी की बड़ी दीक्षा हुई, उस दीक्षा के सुनहरे अवसर पर महाराष्ट्र के खाद्यमंत्री भाउसाहब वर्तक भी आये । उस समय दीक्षा के उपलक्ष में श्रीमान् धर्मप्रेमी चुन्नीलाल जी भेरुलाल जी कसारा, श्रीमान् धर्मप्रेमी खेमराजजी नेमिचन्द जी दोलावत, श्रीमान् छोगालाल जी चमना जी माद्रेचा ने क्रमशः ११००, ७०१, ६५१, दान में कहे । वे ह० उन्होंने पुस्तक प्रकाशन के लिए ग्रन्थालय के प्रकाशन विभाग को सप्रेम अर्पित दिये, एतदर्थ हम उनका हृदय से आभार मानते हैं । भविष्य में भी सदा सहयोग मिलता रहे यही अपेक्षा रखते हैं ।

मंत्री

शान्तिलाल जैन

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराडा

लेखक की कलम से

अमेरिका के सुप्रसिद्धचिन्तक राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन जब कभी किसी से वार्तालाप करते तो वार्तालाप में वे लघु कथाएं, रूपक आदि सुनाया करते। एकदिन किसी ने उनसे पूछा—“आप वार्तालाप में रूपक और कथाओं का प्रयोग क्यों करते हैं ?”

उन्होंने उसे उत्तर देते हुए कहा—“पहली बात यह है कि मैं व्यर्थ के वाद-विवाद से बच जाता हूँ।

“दूसरी बात यह है कि मुझे अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कठोर वचन नहीं कहने पड़ते।”

“तीसरी बात यह कि लोग मेरे बिना कहे ही अपनी भूलों को समझ जाते हैं। साथ ही उन भूलों के परिमार्जन का मार्ग भी कथाओं व रूपकों के द्वारा उनको मिल जाता है।”

“चौथी बात यह है कि कथाओं के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश इतना रुचिकर और प्रिय होता है कि श्रोता यह समझता है कि यह उपदेश दिया जा रहा है। वह शरबत की तरह उसके गले के नीचे उतर जाता है।”

श्रीमद्भागवतकार ने कहा है कि संसार ताप से संतप्त प्राणी के लिए कथा संजीवनी बूटी है—

तव कथामृतं तप्त जीवनं

कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवण-मंगलं श्रामदाततं

भुवि गुणान्तितं भूरिदा जनाः

—श्रीमद्भागवत १०।३।१६

महात्मा गांधी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि शिक्षक का कार्य है गहन विषय को भी सरल-सरस व मनोरंजक बनाकर प्रस्तुत करे। यह कार्य कथाओं के द्वारा ही संभव है। कथाओं के द्वारा दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक जैसे गुरु-गंभीर विषय भी इतने रुचिकर व सरस बन जाते हैं कि पाठक को उन्हें समझने में कठिनता नहीं होती।

कथाएं बुद्धिवर्धक विटामिन है। 'खिलती कलियां मुस्कराते फूल' में वही विटामिन पाठकों को प्रस्तुत किया जा रहा है। यह विटामिन कैसा है, इसका निर्णय मैं पाठकों पर छोड़ता हूँ। यदि प्रबुद्ध-पाठकों को यह विटामिन पसन्द आया तो शीघ्र ही इससे अधिक सुन्दर शक्तिवर्धन विटामिन प्रस्तुत किया जायेगा।

यहां मैं श्रद्धास्पद सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जो महाराज के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करूंगा कि जिनकी प्रबल प्रेरणा और दिशा दर्शन मेरे साहित्यिक जीवन का सम्बल रहा है। साथ ही परमस्नेही कलम-कलाधर श्रीचन्द्र जो सुराना 'सरस' को भी विस्मृत नहीं हो सकता, जिन्होंने स्नेह व श्रद्धा पूर्वक सुन्दर संपादन किया है, और मुद्रण कला की दृष्टि से पुस्तक को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयास किया है।

स्थानकवासी जैन उपाश्रय

१२, ज्ञान मन्दिर रोड
दादर (वेस्ट), बम्बई २८
दिनांक १६-८-७०

—देवेन्द्र मुनि

प्रस्तुत पुस्तक के अर्थ सहयोगी

सादडी (मारवाड़) निवासी स्वर्गीय पूज्य
पिता श्री नथमलजी मूलचन्दजी पुनमिया
एवं मातेश्वरी पेपीबाई की पुण्य-स्मृति में
चाम्दमल पुनमिया

सम्पादकीय



कवीन्द्रैरवीन्द्र की एक लघु कथा है—

—ततैया और मधुमक्खी के बीच विवाद चल रहा था—
“दोनों में अधिक बलवान कौन है ?” अंत में ततैया ने खीझकर कहा—“हजार प्रमाण देकर मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मेरा डंक तेरे डंक से अधिक तीव्र है ।”

मधुमक्खी बेचारी क्या करती, पराजित होकर बैठ गई ।

वनदेवी को मधुमक्खी की उदासी सह्य नहीं हुई । उसने स्नेहपूर्वक मधुमक्खी के पंखों को सहलाकर कान में कहा—
“तू उदास क्यों होती है बेटी ! डंक की तीव्रता में तू अवश्य पराजित है, पर मधुमयता में तुझे कौन पराजित कर सकता है ?”

कथा कहानियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है । कल्पना की तीव्रता और अलंकारों की चमत्कृति में कहानी, काव्य से पराजित भले ही हो, किंतु अनुभूतियों की मधुमयता में कहानी सदा अपराजेय रही है ।

कहानी, वह भले ही अपनी हो, या अपने संवेदन में परा-रोपित हो,—एक रसमय तरंग है, एक मधुर शीतल हिलोर है। उस हिलोर की उछाल में शुष्क एवं नीरस हृदय भी रसमय बन जाते हैं। उस रसानुभूति के वेग में कभी-कभी आत्मानुभूति की एक दिव्य किरण भी चमक आती है, जो मन की तमसिल भूमि को आलोकमय बना देती है।

विश्व कथासाहित्य का अमरशिल्पी ईसप सिर्फ अपनी कहानियों की मधुमयता के कारण ही एक कुरूप कुबड़ा गुलाम होकर भी यूनान के तत्कालीन लोक-जीवन का मार्ग द्रष्टा बन गया। गुलामों के प्रसिद्ध बाजार संमोस से जब दार्शनिक जान्थुस ने ईसप को खरीदा, और अपने घर ले गया तो उसकी पत्नी दार्शनिक पर उबल पड़ी—“इससे तो अच्छा था, कोई जानवर खरीद लाते।” किंतु ईसप ने उसी दुष्ट स्वभाव की नारी को अपनी कहानियां सुना-सुना कर कुछ ही दिनों में ‘देवी’ रूप में परिवर्तित कर दिया।

और प्रसिद्ध है विश्व के महान नीति-कथासर्जक आचार्य विष्णुशर्मा का पंचतंत्र ! जिसकी उद्भावना एक मन्दबुद्धि मूर्ख राजकुमार के लिए की गई। और जिन्हें सुनते-सुनते छह महीनों में प्रज्ञा की स्फुरण, नीति और विवेक का आलोक पाकर राज-कुमार एक श्रेष्ठ लोक प्रशासक के रूप में चमक उठा।

सचमुच कथाओं में केवल मधुमक्खी के डंक की मधुमयता ही नहीं होती, किंतु ज्ञान और अनुभव की एक अद्भुत छटपटाहट भी होती है, जो मधुरिमा के साथ-साथ मानव-मानस को प्रबुद्ध

ज्ञानाती जाती है, ज्ञान और चरित्र की चेतना जागृत करती जाती है ।

लगता है मधुरिमा के साथ वैचारिक जागृति और चारित्रिक चेतना लेकर ही श्री देवेन्द्र मुनि ने इन कथाओं की भव्य-शब्द देह में अर्थ की आत्मा को रूपायित कर दिया है । कथा-संस्मरण लेखन की अनेक नूतन-शैलियों में प्रस्तुत-शैली एक नवीन सर्जना है, जिसमें कथासूत्र की उद्बोधकता को उत्तेजित करने वाले संक्षिप्त विचार सूत्र भी कथाओं के पूर्व आमुख के रूप में अंकित किए गए हैं, और वे भी विचारजगत के बहुश्रुत मनीषियों के विचार कण के रूप में । इससे विचारों की उत्तेजकता में मधुरिमा घुल गई है, और कथाओं की मधुरिमा में एक अपूर्व उत्तेजकता आ गई है, आशा है कथालेखन की यह शैली प्रस्तुत में अपनी उपादेयता के साथ-साथ मौलिकता का मापदण्ड भी स्थापित करेगी ।

श्री देवेन्द्र मुनि जी वर्तमान जैनजगत के एक उदीयमान साहित्यकार हैं । साहित्य लेखन उनका व्यवसाय नहीं, रुचि है । साहित्य लेखन का प्रेरक तत्त्व यशःकामना नहीं, किंतु आत्म-तृप्ति है । इस कारण उनके साहित्य में लोक रंजन के साथ लोकोपकारिता का तत्त्व भी दूध में स्वाद के साथ पौष्टिकता की भांति अन्तर्हित है । उनकी लेखनी साहित्य की विविध विधाओं को स्पर्श कर रही है । शोधपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के साथ-साथ विचारपूर्ण जीवन-स्पर्शी साहित्य की सर्जना भी वे कर रहे हैं और अपनी विविध-विषयावगाहिनी प्रतिभा का अमृत-

कोष विश्व मानवता के लिए उन्मुक्त भाव से दान करते जा रहे हैं, यह उनके साहित्यकार का संत तत्त्व है ।

‘खिलती कलियां, मुस्कराते फूल’ में विश्वजीवन की अनुश्रुतियां और अनुभूत जीवन-स्फूर्तियां अपनी मर्मोद्घाटिनी अभिव्यक्ति लिए अंकित हुई है । इसके संपादन के लिए श्री देवेन्द्र मुनि जी ने मुझे उत्साहित किया, अपनी लोकोपकारी दृष्टि का संकेत दिया, जिसके लिए मैं स्वयं को सौभाग्यशाली मानता हूँ । अपने अध्ययन व अनुभव से संकलित नोट्स एवं श्रुतियों के आधार पर मुनि श्री जीने जो कथासूत्र दिए, मैंने उन्हें भाव-भाषा-शैली की कूंची से कुछ हल्का, कुछ गहरा रंग दिया है । आशा करता हूँ पाठकों को वह रुचिकर प्रतीत होगा, और मानसिक खाद्य के अभाव की किंचित् आपूर्ति कर सकेगा—इसी विश्वास के साथ.....

आगरा

१-१०-७०

—श्रीचन्द सुराना ‘सरस’

जीवन स्फूर्तियाँ

१ आचार का चमत्कार	१४६
२ गाली क्यों दूँ ?	१५३
३ भद्रता की कसौटी	१५५

११	प्रीति और भीति	२६
१२	अस्तेय की सीमाएं	३१
१३	महान कौन ?	३३
१४	सबसे बड़ा कृतघ्न !	३५
१५	निर्माता आर विजेता	३६
१६	नाम और काम	३८
१७	अपना मार्ग खुद देखो	४२
१८	चमत्कार बनाम सदाचार	४४
१९	गाली कहां जायेगी ?	४६
२०	एक छिद्र !	४८
२१	क्रोध का स्वरूप	५०
२२	सच्ची दृष्टि	५४
२३	अपना मांस	५७
२४	अपने आइने में	६१
२५	चार वर्ग	६३
२६	सृष्टि का मूल	६५
२७	परमधन	६७
२८	तुम महान् हो	७०
२९	अमरता का घोष	७२
३०	आसक्ति	७५
३१	अमृत की लड़ी	७७
३२	अमरता की खोज	७९
३३	ऊपर देख	८२
३४	भूठी बड़ाई	८४

३५	आज की समीक्षा	८८
३६	कर्मण्येवाधिकार स्ते....	९१
३७	समय	९३
३८	शैतान का वास	९५
३९	पारसमणि	९७
४०	गुणदृष्टि	१००
४१	प्रतिच्छाया	१०३
४२	अमर ज्योति	१०५
४३	आत्म-वंचना	१०९
४४	संकल्प	११२
४५	आग्रह का खूंट	११४
४६	आत्म-स्मृति	११६
४७	अन्न की कुशलता	११९
४८	तीन देवियां	१२२
४९	सच्चा पाठ	१२६
५०	उदार दृष्टि	१२९
५१	दृष्टि जैसी सृष्टि	१३१
५२	साथी की करतूत	१३४
५३	आत्महत्या	१३७
५४	तीन गुण	१४०
५५	गुरु मंत्र	१४४

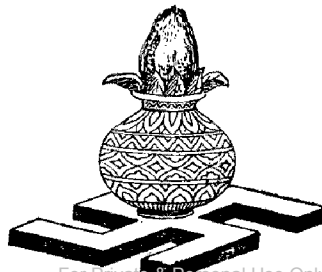


अनुश्रुत श्रुतियां

१	क्या चाहते हो ?	३
२	पूजा करना या करवाना ?	६
३	अन्तर दृष्टि	८
४	मधु कुंड	१०
५	मोह भंग	१२
६	बुराई	१४
७	दसगुरु	१७
८	सुख की डोर-प्रीति	२२
९	तुलसी और वट	२५
१०	गरज कर बरसना	२७

४	विनम्रता	१५७
५	राष्ट्र पिता का आदर्श	१५९
६	माता की आज्ञा	१६२
७	आत्म भ्रांति	१६५
८	संगीत का आनंद	१६८
९	सत्पुरुष का आभूषण	१७१
१०	संयम ही महान् बनाता है	१७४
११	राक्षसी और देवी	१७६
१२	अद्भुत तितिक्षा	१८२
१३	सद्व्यवहार	१८५
१४	दया का असली रूप	१८८
१५	रसायन का उपयोग	१९०
१६	उत्साह का ज्वार	१९२
१७	ऐसे बोलो....	१९४
१८	सर्वश्रेष्ठ शासक	१९६
१९	संत का मूल्य	१९९
२०	सत्यनिष्ठा	२०१
२१	सम्मान किसमें ?	२०४
२२	कच्ची रोटी	२०७
२३	बड़ों का क्रोध	२१०
२४	अपवित्र	२१२
२५	मारनेवाला	२१४
२६	दुनिया का मालिक	२१६
२७	दान और विनम्रता	५१८

२८	प्रज्ञाहीनता	२२०
२९	सत्संग का प्रभाव	२२२
३०	मुक्ति के लिए	२२५
३१	कर्तव्य बोध	२२८
३२	सम्मान	२३२
३३	सफलता का नुस्खा	२३४
३४	उदार दृष्टि	२३६
३५	विजयध्वज	२३९
३६	सच्चे श्रोता	२४२
३७	मोटी चादर	२४४
३८	गुस्सा क्यों करूं ?	२४८
३९	सब से बड़ा दान	२५०
४०	हीरे मोती	२५३
४१	उत्साह की विजय	२५५
४२	जब प्रेम उठाने वाला हो... ?	२५८







आधुनिक जापान के कालिदास महाकवि नागोची ने एक जगह लिखा है—“स्वर्ग के सर्वानन्द के बीच भी भगवान ने जब मुझे परेशान देखा तो स्नेहार्द्र भाव से पूछा—“इतने उदास क्यों हो, मानव ! क्या स्वर्ग में किसी बात का अभाव है ?”

“हां, प्रभो ! मैं अपनी एक ऐसी निधि पृथ्वी पर भूल आया हूँ, जिसके सामने स्वर्ग के अनन्त सुख बिल्कुल बेस्वाद हैं।”

“क्या है वह निधि”—विधाता ने भुंभला कर पूछा। “अब तक संजोयी हुई कुछ श्रुतियाँ और कुछ अनुभूतियाँ !”—मैंने कहा।

अनुश्रुतियों में केवल मानव मस्तिष्क की उच्च मधुर कल्पना का चमत्कार ही नहीं, किन्तु बहुमूल्य अनुभवों का ऐसा रसायन भी है, जिनके स्पर्श से जीवन का लोहा स्वर्ण बन सकता है। ●

क्या चाहते हो ?

मनुष्य फल चाहता है, वृक्ष नहीं, यदि वृक्ष की सेवा तथा संभाल की जाये तो फल स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे ।

मनुष्य सुख, वैभव, यश, प्रतिष्ठा और संतान चाहता है, यदि धर्म का आचरण किया जाये, तो सुख, वैभव आदि उसके पीछे पीछे अपने आप आयेंगे ।

वृक्ष की महत्ता से जो परिचित है, वह फलों के आडम्बर पर ललचाता नहीं, धर्म की अनन्त शक्ति का जिसे ज्ञान है, वह सुख वैभव के व्यामोह में फंसता नहीं । भारतीय इतिहास की भाषा में धर्म को ग्रहण करना अर्जुन की दृष्टि है, सुख वैभव पर ललचाना दुर्योधनी-बुद्धि है ।

महाभारत का युद्ध निश्चित होने पर नारायण श्री कृष्ण को रण-निमंत्रण देने दुर्योधन द्वारका पहुँचा, इधर अर्जुन भी ! श्री कृष्ण शयनागार में आराम कर रहे थे, दुर्योधन शय्या के सिरहाने की ओर एक आसन पर बैठ

गया। अर्जुन चरणों की ओर खड़े, उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे।

श्री कृष्ण ने ज्यों ही आँखें खोलीं, चरणों में उपस्थित अर्जुन पर दृष्टि गिरी, 'धनंजय ! तुम कब, कैसे आये ?'

“वासुदेव ! मैं भी आया हुआ हूँ, अर्जुन से पहले” मन में शंकित, बाहर गर्वित दुर्योधन बोला।

“ओह ! आप” !—श्री कृष्ण ने दुर्योधन की ओर शिर घुमाकर देखा—“कहिये क्या सेवा है ?”

“युद्ध में आपकी सहायता चाहिए।”

“और अर्जुन तुम किस लिए आये ?”

“वासुदेव ! मैं भी इसी उद्देश्य से आया हूँ।”

श्री कृष्ण गंभीर होकर बोले—“आप दोनों ही हमारे सम्बन्धी हैं, इस गृहयुद्ध में किसी एक का पक्ष लेना उचित नहीं। अतः एक ओर मैं शस्त्रहीन रहूँगा, दूसरी ओर मेरी सशस्त्र सेना ! हां, अर्जुन को मैंने पहले देखा है, अतः प्रथम अवसर उसे मिलना चाहिए।”

अर्जुन की बाँछे खिल गई, बड़ी आतुरता से उसने कहा—“वासुदेव ! आप हमारी ओर रहिए।”

अब दुर्योधन के मन चाहे हो गए, उसने कहा—“हां, हां ठीक है। नारायण अर्जुन के साथ रहेंगे और सज्जित नारायणी सेना हमारे साथ।” दुर्योधन वर प्राप्त कर प्रसन्नता पूर्वक लौट गया।

श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—“तुम ने यह क्या

क्या चाहते हो ?

५

किया ? इतनी बड़ी सेना को छोड़कर मुझ निःशस्त्र को क्यों मांगा ?”

अर्जुन ने दृढ़ता के साथ विनय पूर्वक कहा—“मुझे फल नहीं, वृक्ष चाहिए, नारायणीसेना नहीं, स्वयं नारायण चाहिए। जहां नारायण है, यं गेश्वर कृष्ण हैं— वहां श्री, विजय विभूति, समृद्धि, और प्रतिष्ठा सब कुछ हैं।”

जहां धर्म है, वहां सुख, वैभव समृद्धि सब कुछ हैं।



पूजा करना या करवाना ?

भगवान महावीर ने भिक्षुओं को संबोधित करके एकबार कहा था—“नो पूयणं चेव सिलोयकामी” भिक्षुओ ! यश और पूजा प्राप्त करने की अभिलाषा मत करो ।

पूजा करने वाले को पूजा स्वयं प्राप्त होती है, यश देने वाला यश का वरण करता है, दूसरों को सम्मान देनेवाला स्वयं सन्मानित होता है । जो पूजा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसे किस प्रकार प्रताड़नाएँ आ घेरती हैं, यह निम्न रूपक से व्यक्त होता है ।

एकबार फूलों ने प्रकृति से शिकायत की “तुम्हारे शासन में हमारे साथ बहुत बड़ा अन्याय और पक्षपात पूर्ण व्यवहार हो रहा है । हम सदैव पत्थरों की पूजा करते रहें, उनके चरणों में अपना जीवन अर्पित करते जायें यह कहाँ का न्याय है ।”

प्रकृति ने कहा—“सच ! तुम्हारे साथ न्याय नहीं हो रहा है, तुम्हें पत्थरों की पूजा नहीं रुचती है तो न करो, अब से पत्थर तुम्हारी पूजा करेंगे ।”

फूल प्रसन्न होकर डाली पर गदरा रहे थे, पत्थर

उनकी पूजा करने के लिए चरणों पर आने लगे, कुछ ही क्षणों में फूलों का कचूमर निकलने लगा, पंखुडियां टूट कर गिरने लगी ।”

संत्रस्त्र उद्विग्न फूल क्षमा प्रार्थना करने प्रकृति के चरणों में पहुँचे—“देवि ! हमें पूजा का सम्मान नहीं चाहिए, पूजा ग्रहण करने की अपेक्षा पूजा करना ही ज्यादा श्रेयस्कर है ।” ●

अन्तर् दृष्टि

जब तक दृष्टि बाहर में दौड़ती है, धन, वैभव, पुत्र, परिवार, भवन, आवास, राज्य, साम्राज्य सब पर अपना अधिकार जमाती जाती है। 'पर' को 'स्व' समझती है, और आसक्ति के बंधन में उसके साथ भटकती रहती है।

किन्तु जब दृष्टि अन्तर की ओर मुड़ती है तो वहाँ साम्राज्य, परिवार, वैभव और तो क्या, यह शरीर भी 'पर' दिखाई देता है—अहमिक्को खलु सुद्धो—मैं (आत्मा) ही परम विशुद्ध स्वरूपी अपना अकेला हूँ, इसी पर मेरा अधिकार है ?” इसके अतिरिक्त “णवि अत्थि मज्झकिंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि” — परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, किसी पर मेरा अधिकार नहीं है।

कहा जाता है—महाराज जनक के राज्य में एक ब्राह्मण से कोई भारी अपराध हो गया। महाराज जनक

ने ब्राह्मण को सरोष तर्जना दी, और अपने राज्य से बाहर चले जाने की आज्ञा भी ।

ब्राह्मण ने पूछा—“महाराज ! यह बतला दीजिए कि आपका राज्य कहाँ तक है, क्योंकि राज्य की सीमा का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही मैं उससे बाहर जा सकूँगा ।”

ब्राह्मण के प्रश्न से आत्मज्ञानी जनक के मन पर एक झटका लगा, वे सोचने लगे—“सम्पूर्ण पृथ्वी पर मेरा अधिकार है । फिर कुछ गहरे उतरे, नहीं ! पृथ्वी पर अनेक बलशाली शासक राज्य कर रहे हैं । उन्हें मिथिला पर ही अपना अधिकार दीखने लगा । आत्म-ज्ञान का एक झौंका फिर लगा, अधिकार की सीमा घटने लगी, प्रजा पर, फिर सेवकों पर, अपने अन्तःपुर पर और फिर शरीर पर अधिकार की सीमा संकुचित हो गई । महाराज और गहराई में उतरे तो उन्हें भान हुआ कि यह सब तो नश्वर है, इन पर अधिकार कैसा ? मेरा अधिकार तो सिर्फ मेरी आत्मा पर है ।” वे शांत गम्भीर वाणी में बोले—“विप्र ! किसी भी वस्तु पर मेरा अधिकार नहीं है, आप जहाँ चाहें, वहाँ रहिए ।” ●

मधु कुंड

तथागत बुद्ध ने कहा है—“मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो-
सेट्ठा मनोमया” समस्त धर्म-(वृत्तियां) प्रथम मन में जन्म
लेती हैं, मन सब में श्रेष्ठ है, यह सृष्टि मनोमय है ।^१

सुख और आनंद का मधु कुंड मन है, दुख और
दीनता का नरक कुंड भी मन ही है । मन यदि अशांति
से जल रहा है, विषाद के विष से संत्रस्त है तो स्वर्ग
की शीतल हवाएँ और वहां के अमृत कण भी उसे शांति
और सुख नहीं दे सकते । टाल्स्टाय ने इस प्रसंग पर एक
कहानी लिखी है—

ब्रिग्स नामक पादरी रात-दिन भगवान से प्रार्थना
करता था—“हे दयामय ! प्रभु ! मुझे इस दुःखमय
संसार से उठाले, अपने स्वर्ग में बुलाले जहां सुख एवं
आनंद का सौरभ बिखरा रहता है ।”

भगवान ने ब्रिग्स की प्रार्थना सुनी, उसे स्वर्ग में
बुला लिया ।

ब्रिग्स को स्वर्ग में भी शांति नहीं मिली । चार वर्ष के बाद भगवान से प्रार्थना करके वह पुनः मर्त्यलोक में लौट आया ।

लोगों को आश्चर्य हुआ, धर्मावतार ब्रिग्स स्वर्ग से लौट क्यों आया ? ब्रिग्स ने जनता की जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा—“सुख के असीम पारावार स्वर्ग में रह कर भी मेरे मन का विषाद कम नहीं हुआ । मैं जितना दुःखी यहां था उतना ही वहां भी रहा । मुझे अब लग रहा है-सुख और आनन्द की अनुभूति बाहर में नहीं, भीतर ही है । मन के भीतर सुख का अक्षय मधु कुंड भरा है, उसे संसार को मुवत हाथ से वितरण करके ही मन की शांति और आनंद प्राप्त किया जा सकता है ।”



मोह भंग

प्राणी चाहे छोटा है या बड़ा, ऊंचा है या नीचा, चैतन्य दृष्टि से उसमें कोई अन्तर नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है—“हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे च्चेव जीवे ।”^१—आत्मा-चैतन्य की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ दोनों की आत्मा एक समान है।

यही गीता की चैतन्य दृष्टि है—“शुनि चं व श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥”^२

सच्चा तत्त्वज्ञानी कुत्ते और चण्डाल में आत्मा को एक समान देखता हुआ सम-दृष्टि रखता है।

पर, देखा यह गया है, तत्त्वज्ञान की गंभीर चर्चा करने वाले विद्वान व आत्माद्वैत का डिडिमनाद करने वाले आचार्य भी बद्ध मूल दैहिक भावना के वश होकर इस आत्मज्ञान को भूल जाते हैं, और दैहिक आधार पर एक को तुच्छ, एक को श्रेष्ठ मानने लग जाते हैं। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञान की विडम्बना है।

१ भगवती ७८ २ गीता ५।१८

अद्वैत वेदान्त के समर्थ आचार्य शंकर दक्षिणापथ से उत्तरापथ की ओर बढ़ते हुए काशी पहुँचे। प्रातः गंगास्नान करके वापस लौट रहे थे कि मार्ग में एक मेहतर मिल गया। शंकर केरल के कर्मकांडी ब्राह्मण पुत्र थे। आत्माद्वैत की उद्घोषणा करते हुए भी दैहिक संस्कार प्रबल हो उठे। भृकुटि चढ़ाकर बोले—“चाण्डाल ! रास्ते से दूर हटो।”

मेहतर दंपती अलग हटने के बजाय शंकर के सामने आकर डट गये। ज्ञानी शंकराचार्य का धीरज टूट गया। उन्होंने तिरस्कार पूर्वक चाण्डाल को दुत्कारा तो वह मुक्तहास के साथ कहने लगा—“भगवन् ! आप दूर किसे हटाना चाहते हैं ? इस देह को, या देही को ?” शंकर भृकुटि से मेहतर की ओर देखने लगे। मेहतर ने धीरज से आगे कहा—‘देह तो अन्न से पोषित होने के कारण अन्नमय कहा जाता है, तो एक अन्नमय देह दूसरे से भिन्न है क्या ? और इस देह में अधिष्ठित जीव द्रष्टा होने के कारण साक्षी कहलाता है, एक साक्षी क्या दूसरे साक्षी से भिन्न है ? फिर क्या आप अपने मिट्टी के शरीर को मेरे मिट्टी के शरीर से दूर रखना चाहते हैं, अथवा अपने समदर्शी आत्मा को मेरे समदर्शी आत्मा से भिन्न देखना चाहते हैं ? ज्ञान सागर का मंथन करके क्या आपने यही अद्वैत-अमृत प्राप्त किया है ?”

ज्ञानोद्दीप्त शंकराचार्य के मोह आवरण हट गए। दैहिक संस्कार छूटे और सहज शुद्ध आत्मा के दर्शन कर वे चाण्डाल का आलिगन करने की आगे बढ़े। ●

बुराई

बुराई, ईर्ष्या, मन के अंगारे हैं। अंगारा दूसरे को जलाने से पहले अपने आश्रय को ही जलाता है, ईर्ष्या और बुराई भी दूसरों का अहित करने से पहले अपने उत्पादक—ईर्ष्यालु व अहितचिन्तक का ही नाश करते हैं।

जो दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है, वह स्वयं भी उस गड्ढे में गिर जाता है। अग्नि को बुलावा देने वाला काठ क्या यह नहीं सोचता कि वह अग्नि दूसरों के साथ तुम्हे भी भस्मसात् कर डालेगी ?

भगवान महावीर का एक वचन है—“सयमेव कर्णेहि गाहई”^१—पापी अपने किए हुए से स्वयं ही ग्रस लिया जाता है। दूसरों की बुराई एवं ईर्ष्या के सम्बन्ध में यह शतप्रतिशत सही है।

एक लोकानुश्रुति है—सृष्टि के प्रारंभ में गाय और घोड़े में बड़ी मैत्री थी। दोनों जंगल में साथ-साथ चरते और बड़े आनन्द से जीवन गुजारते। एक दिन घोड़ा गाय से रूठ गया। गाय को परेशान करने का कुविचार उसके मन में जगा। वह खोजता-खोजता मनुष्य के पास पहुँचा। मनुष्य को कहा—“देखो, तुम्हें एक ऐसा जानवर बताऊँ, जिसके स्तनों में दूध भरा है, उसे घर में खूँटे से बांध दो और रोज दूध पीओ।”

मनुष्य के मुँह में पानी छूट आया, पर उसके सामने समस्या थी, इतनी दूर जंगल में कैसे जाये? बीच में कितने पहाड़, नदी, नाले और संकड़े रास्ते, और वियावान जंगल !”

घोड़े ने कहा—“घबराओ मत ! मेरी पीठ पर बैठ जाओ, अभी पवन वेग से तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ।” आदमी घोड़े की पीठ पर बैठा, और बात की बात में बहुत दूर जंगल में पहुँच गया। घोड़े की आनन्दप्रद सवारी पर उसकी गीध दृष्टि ललचा गई।

घोड़े ने गाय की ओर संकेत किया, आदमी ने गाय को डोरी से बांध लिया। वापस जाने की समस्या सामने आई तो घोड़ा फिर उसे घर तक पहुँचाने आया। आदमी ने एक खूँटे से गाय को बांधा और दूसरे खूँटे से घोड़े को। घोड़ा हिनहिनाया—“मुझे छुट्टी दो भाई !”

आदमी ने व्यंग्य मिश्रित हंसी के साथ कहा—
 “छुट्टी की बात मैं नहीं जानता। अब गाय का दूध
 पीऊंगा और घोड़े की पीठ पर चढ़कर सैर करूंगा।”

गाय ने रंभाकर कहा—“जैसा किया वैसा पाया।”
 बुराई का नतीजा बुरा है। ●

दस गुरु

एक बार बीरबल से किसी ने पूछा—“आपने इतनी बुद्धि कहां से सीखी ? आपका गुरु कौन है ?”

बीरबल ने छोटा सा उत्तर दिया—“मूर्खों से ! मूर्ख ही मेरे गुरु हैं ।”

जो मनुष्य सीखना चाहता है, जिसमें ग्रहण करने की योग्यता है, उसके लिए पृथ्वी की समस्त वस्तुएं शिक्षक हैं, गुरु हैं । गांधी जी ने तीन बंदरों के चित्र से भी तीन महत्त्वपूर्ण जीवन सूत्र दे दिए ।

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में ऋषि दत्तात्रेय और महाराज यदु का एक सार पूर्ण संवाद है ।

महाराज यदु ने ऋषि दत्तात्रेय से पूछा—“महर्षि ! आप समस्त सद्गुणों से युक्त और सब विद्याओं में निपुण होकर भी इतने निर्लिप्त कैसे रहे ? आपके ऐसे ज्ञानी गुरु कौन हैं !

‘राजन् ! मेरे गुरुओं ने मुझे ऐसी ही महान् शिक्षाएँ दी हैं, जिनसे मेरी विवेक बुद्धि सदा जागृत एवं निर्मल रहती हैं’—ऋषि ने गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया ।

“महाराज ! वे गुरुराज कौन हैं ? क्या मुझे उन गुरुओं, एवं उनकी दिव्य शिक्षाओं का मर्म जानने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ?”—राजा ने विनयपूर्वक पूछा ।

“हां, अवश्य !” ऋषि ने प्रसन्नता पूर्वक कहा—
“सुनिए ! मेरे प्रथम गुरु का नाम है पृथ्वी ! उसने मुझे दैविक, भौतिक समस्त विपत्तियों के आघात-उत्पात सहकर सतत अविचल रहने की शिक्षा दी है ।”

मेरे दूसरे गुरु का नाम है—वायु ! वायु के दो रूप हैं—प्राणवायु और बाह्यवायु ! प्राणवायु, रूप, रस, गंध आदि की वासना से अलिप्त रहकर केवल आहार मात्र ग्रहण करता है । उसी तरह सत्पुरुष को मित आहार से संतुष्ट रहना चाहिए ।

बाह्य वायु सर्वत्र विचरती हुई भी शुद्ध, अविकृत रहती है । आत्मज्ञानी को भी सांसारिक वासनाओं से अलिप्त रहकर अपना कर्म करते रहना चाहिए ।

मेरे तीसरे गुरु का नाम है, आकाश ! आकाश, जल,

१ तुलना करो—‘पृथ्वी समो मुनि हवेज्जा’—मुनि पृथ्वी के तुल्य धैर्यव्रती बनें ।

वायु, तेज आदि से व्याप्त होकर भी उनसे पृथक रहता है, वैसे ही आत्मा-शारीरिक गुण-धर्मों से संयुक्त होकर भी अपने को उनसे पृथक रखे—यह सीख मैंने आकाश से ली है ।^१

मेरे चौथे गुरु हैं—जल ! जल स्वभावतः स्वच्छ व शुद्ध होता है । मिट्टी आदि के संयोग से गंदला हो जाता है, किंतु प्रयत्न से पुनः अपने स्वच्छ रूप में आ जाता है । तथा अपनी रसमयता से समस्त वनस्पतियों एवं प्राणियों को जीवनदान करता है, वैसे ही मनुष्य को स्वभावतः स्वच्छ एवं स्नेहशील होना चाहिए ।^२

मेरे पांचवे गुरु का नाम है—अग्नि ! अग्नि की तेजस्विता के कारण कोई उसका स्पर्श नहीं कर सकता । वह अन्न को पकाती है, शरीर को गर्म रखती है । आप उसे जो कुछ भी दे दीजिए, वह संतोष पूर्वक अपने उदर में डाल लेती है । न किसी से द्वेष, न किसी से स्नेह । सत्पुरुष को भी सदा समरूप, तेजस्वी, निर्मत्सर और वीतराग होना चाहिए ।

मेरे छठे गुरु हैं—सूर्य ! सूर्य समस्त पृथ्वी को बिना किसी भेद भाव के प्रकाश देता है । किरणों से आकृष्ट जल को, पुनः समय पर पृथ्वी को वितरित कर देता है । मैंने

१ तुलना—गगणमिवनिरालंबे ।

२ तुलना—सारदसलिलमिव सुद्धहियया ।

लोकों के उपकार के लिए अपनी संपत्ति का वितरण एवं समत्वभाव का आदर्श सूर्य से सीखा है ।

मेरे सातवें गुरु का नाम है—चन्द्रमा ! चन्द्रमा की कलाएं प्रतिमास घटती-बढ़ती रहती है, फिर भी वह अपनी सहज शीतलता का त्याग नहीं करता । सुख-दुःख में भी अपने सद्गुण को नहीं त्यागने की शिक्षा मैंने चन्द्रमा से ली है ।

मेरे आठवें गुरु हैं—समुद्र । वर्षा ऋतु में असंख्य-असंख्य नदियों के जल से पूरित होकर भी समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता । और भयंकर ग्रीष्म ऋतु में सूखता भी नहीं । सत्पुरुष को वैभव पाकर न फूलना चाहिए और न दुर्दिन के कारण क्षुब्ध ही होना चाहिए । यह मानसिक संतुलन की शिक्षा मैंने समुद्र से ली है ।

मेरा नौवां गुरु है—भ्रमर ! भ्रमर विभिन्न पुष्पों से रस ग्रहण करता रहता है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को संसार में सर्वत्र गुण-दृष्टि रखनी चाहिए । यह सार-ग्राहिता की शिक्षा मैंने भ्रमर से ली है ।^१

मेरा दसवां गुरु है—बालक ! बालक जिस प्रकार सर्वत्र निःशंक होकर सरल भाव से विचरण करता है, सबसे स्नेह करता है, वैसे ही द्वेष, मात्सर्य आदि

१ तुलना — महुगारसमा बुद्धा ।

दुर्भावनाओं से मुक्त रहकर सरलता पूर्वक जीवन-यापन करना मैंने बालक से सीखा है।”

महर्षि दत्तात्रेय के हृदयस्पर्शी वचन सुनकर राज्ञ यदु ने विनत होकर कहा—“ब्रह्मन् ! सचमुच आपने जीवन की समस्त विभूतियों का सार प्राप्त कर लिया है।” ●

सुख का डोर : प्रीति

संसार में सुख-संपत्ति, यश और कीर्ति, प्रीति की डोर से बंधी हुई है।

जिस मनुष्य में प्रेम-प्रीति नहीं, वह मनुष्य होकर भी मनुष्यता का आनन्द नहीं ले सकता। एक जैनाचार्य ने कहा है—

‘प्रीति सुष्णो-पिसुष्णो’^१—जो प्रीति से शून्य है, वह अधम है।

जिस परिवार में प्रेम नहीं, वह परिवार नहीं, केवल एक झुंड मात्र है। जिस राष्ट्र में प्रेम नहीं, वह राष्ट्र केवल एक विशाल भूखण्ड मात्र है।

प्रेम—प्रीति से राष्ट्र, परिवार और व्यक्ति परस्पर बंधे रहते हैं। प्रेम-स्नेह-संगठन-एकता-ये सब फलित हैं—पारस्परिक प्रीति के। जहाँ प्रीति, वहाँ नीति और विभूति भी स्थिर रहती है यह एक प्रचलित लोक कथा से स्पष्ट होता है—

१ निशोथ भाष्य ६११२

एक धनाढ्य सेठ ने एक रात्रि में स्वप्न देखा— साक्षात् लक्ष्मी उसके समक्ष उपस्थित होकर कह रही है—“सेठ ! अब तुम्हारा पुण्य समाप्त होने वाला है, अतः मैं चलो जाऊँगी, कुछ वर मांगना हो तो मांग लो ।”

सेठ ने कहा—“देवि ! कल प्रातः कुटुम्ब के सब लोगों से सलाह करके जो माँगना होगा, माँग लूँगा ।”

चिंतातुर सेठ ने प्रातः कुटुम्ब के सब छोटी बड़ों को एकत्र किया और रात्रि के स्वप्न की चर्चा की । बड़े पुत्र ने हीरे मोती मांगने को कहा, मंभले पुत्र ने स्वर्ण राशि और छोटे पुत्र ने अन्न भंडार । सेठानी और पुत्र वधुओं ने भी इसी प्रकार कुछ-कुछ मांगने को कहा । अंत में सबसे छोटी बहू बोली—“पिताजी ! जब लक्ष्मी चली जायेगी तो ये सब चीजें कैसे रहेगी ? इनका मांगना न मांगना समान है । आप तो माँगिये—कुटुम्ब परिवार में प्रेम बना रहे ।”

छोटी बहू की बात सबको पसंद आयी । दूसरी रात्रि में लक्ष्मी के दर्शन होने पर सेठ ने कहा—देवि ! आप रहना चाहें तो प्रसन्नता ! जाना चाहें तो भी कोई बात नहीं, किंतु एक वरदान मुझे दीजिए—“हमारे परिवार में हम सब एक दूसरे का आदर करें, परस्पर विश्वास एवं प्रेम से बंधे रहें ।”

लक्ष्मी ने कहा—“सेठ ! अब तो तुम ने मुझे बांध लिया । जहाँ प्रेम और विश्वास होगा, वहाँ लक्ष्मी को

भी रहना पड़ेगा ।” लक्ष्मी ने आगे कहा—देवराज इन्द्र के समक्ष मैंने यह प्रतिज्ञा की थी—

गुरुवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसंस्कृता ।

अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ।

“इन्द्र ! जिस घर में बड़ों का आदर, मधुर व सभ्य-वाणी हो तथा कलह न होता हो, वहाँ मैं निरन्तर निवास करती हूँ ।”

“यही बात आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तथागत बुद्ध ने लिच्छवि क्षत्रियों से कही थी—“जब तक लिच्छवि क्षत्रिय परस्पर में एक दूसरे का आदर करेंगे, विश्वास करेंगे, संथागार में मिलकर विचार करेंगे, और न्याय-पूर्वक व्यवहार करेंगे तब तक इस साम्राज्य को कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकेगी ।” ●

तुलसी और वट

चिन्तक ने हाथ में दो बीज लिए, एक था तुलसी का और एक था वट का ।

घर में एक गमला सजाया, मिट्टी डालो और तुलसी का बीज उसमें डाल दिया ।

घर के बाहर खुली भूमि में वट का एक बीज उसने गाड़ दिया ।

धूप व सर्दी से तुलसी की रक्षा करता, समय-समय पर पानी पिलाता और खाद भी देता । बीज अंकुर बना ।

वट के बीज की किसी ने परवाह नहीं की, धूप-सर्दी-गर्मी के थपेड़ों से खेलता वह प्रकृति से ही सब कुछ पाता रहा । एक दिन भूमि पर अंकुर के रूप में गर्दन उठा कर खड़ा हुआ ।

समय की आंधियां निकल गईं । तुलसी का पौधा अब भी घर की चारदिवारी में बंद गमले के आश्रय पर खड़ा था ।

वट का विस्तार दूर-दूर तक हो गया. सैकड़ों शाखाएं फैल गई, असंख्य-असंख्य पत्तियां हवा में झूम-झूम कर लहराने लगी ।

चित्तक की दृष्टि एक दिन दोनों वृक्षों पर चली गई । तुलसी का यह पौधा इतनी सेवा और शुश्रूषा पाकर भी न किसी को आश्रय देने योग्य हुआ, न धूप व सर्दी से किसी को बचाने में समर्थ । वह नन्हा-सा आकार स्वयं की रक्षा में भी असमर्थता जता रहा था ।

वट विशाल वृक्ष का रूप ले चुका था, हजारों पक्षियों का वह आश्रय था । सैकड़ों मनुष्य व पशु धूप-वर्षा-सर्दी से प्रताडित होकर उसकी छाया में शरण ग्रहण करते थे । आंधी और तूफान की गति भा उससे टकरा कर अवरुद्ध हो जाती ।

चित्तक स्थिति की गहराई में उतरा । सुख सुविधा का वातावरण और सीमित क्षेत्र, विकास की गति को कुंठित कर देता है । दूसरों के पहरे में बढ़ने वाला जीवन सदा पहरे की अपेक्षा रखता है । दूसरों की सुरक्षा में पलने वाला प्राण सदा सदा स्वयं में अरक्षित रहता है ।

और....दुःखों से संघर्ष करके बढ़नेवाला असीम विस्तार पाकर विकास की चरम कोटि पर पहुँच जाता है । अपने बल पर अपना विकास करनेवाला दूसरों के विकास में सहायक होता है, अपनी रक्षा स्वयं करने वाला दूसरों की रक्षा करने में भी समर्थ होता है । ●

गरज कर बरसना

ज्ञानी का हृदय क्षीर-सागर के समान शांत एवं मधुरता से परिपूर्ण होता है। क्षीर सागर स्वयं मधुर तथा शांत रहता है और उसमें अंगारे डालने वाले को भी वह अपनी शीतल लहरों से शांति प्रदान करता है।

सत्पुरुषों की यही विशेषता है। भगवान महावीर ने कहा है—सत्पुरुष—‘पृथ्वी समो मुणि हवेज्जा—’ सत्पुरुष ज्ञानी पृथ्वी के समान होते हैं। वे पीटे जाने पर भी—
हओ न संजले भिक्खु^२ क्रोध नहीं करते।

महर्षि तिरुवल्लुवर ने कहा है—

अहल्लवारेत् ताड्गुम् निलम् पोलत् तम्मै,

इहल् वारय् पारुत्तल तल्ल ।

—यह धरित्री उसे भी आश्रय देती है, जो उसका हृदय विदीर्ण कर गड्ढा खोदता है। इसी तरह कटुवचन कहने

१ दशवै० १०, १३

२ उक्त० २१ २६

वाले को क्षमा कर देना चाहिए, क्षमा ही मनुष्य का श्रेष्ठतम धर्म है।

यूनान के प्रख्यात दार्शनिक सुकरात की पत्नी उसे बहुत तंग किया करती थी। एक बार सुकरात पढ़ रहे थे, पत्नी ने उन्हें बहुत परेशान किया, हल्ला मचाया तो वे उठकर घर की देहलीज पर जा बैठे और वहीं अपनी पुस्तक खोलकर लगे पढ़ने।

सुकरात की पत्नी और भी चिढ़ गई। वह भट एक लोटे में पानी लेकर आई और सुकरात के सिर पर उड़ेल दिया। रास्ते चलते लोग यह तमाशा देखकर जमा हो गए। तभी पत्नी की ओर मुस्करा कर सुकरात ने कहा—‘मुझे मालूम है, बादल पहले गरजते हैं—बाद में पानी बरसता है।’ ●

प्रीति और भीति

कुछ भक्त भगवान को अपने प्रिय सखा के रूप में देखते हैं, वे उन्मुक्त मन से तथा प्रशान्त चेतना के साथ सख्य भाव से प्रभु की उपासना करते हैं ।

कुछ भक्त भगवान को स्वामी के रूप में देखते हैं, वे दीनमन तथा वृत्तियों को संकुचित एवं कृत्रिम संयम का आवरण डाले दास्य भाव के साथ भक्ति करते हैं ।

सख्य भाव में हृदय की उन्मुक्तता रहती है, मन—आत्म गौरव की अनुभूति से प्रफुल्ल रहता है । अभय और स्नेह से प्रीणित होकर भक्त भगवान के सिंहासन पर बैठने का अधिकार अनुभव करता है ।

दास्य भाव में आत्म-गौरव की अनुभूतियां मर जाती हैं, भगवान को स्वामी के रूप में देखकर भक्त सदा उसके सामने दीन-हीन भाव लिए प्रार्थना किया करता है । वह भगवान के सामने आने से भी कतराता है, केवल

परोक्ष अनुभूति से ही आत्म तृप्ति का भान करता है।
दास्य भाव भक्त को सदा भगवान से दूर और भयभीत
रखता है।

सख्य भाव की भक्ति, प्रीति प्रधान भक्ति है, दास्यभाव
की भक्ति, भीति प्रधान ! ●

अस्तेय की सीमाएँ

अचौर्य व्रत के लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है—
अस्तेय एवं अदत्तवर्जन ।

अस्तेय—यह व्रत की सामाजिक एवं नैतिक मर्यादा है । चोरी व अपहरण नहीं करना—यह व्रत का सामाजिक आदर्श है । इसकी परिभाषा यहां तक पहुंच गई है—

“यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योभिः मन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥”^१

मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से वह स्वयं का पेट भर सके, अपनी भूख मिटा सके । इससे अधिक संपत्ति को जो अपनी मानता है, उस पर अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है उसे दण्ड मिलना चाहिए ।” सामाजिक क्षेत्र में यह अस्तेय की सूक्ष्म मर्यादा है ।

१—श्रीमद् भागवत ७।१।८

अदत्तवर्जन—इस से भी आगे बढ़ता है। पेट भरने के लिए भी, यहां तक कि दांत साफ करने के लिए एक तिनका भी किसी के दिए बिना ग्रहण न करे—

“दंत सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं”^२

आध्यात्मिक भूमिका पर अदत्तवर्जन का यह सूक्ष्मतम आदर्श है। साधुमना इब्राहीम के लिए प्रसिद्ध है कि एकबार वे किसी धनवान के बगीचे में माली का काम देखने लगे। एकांत में अपनी साधना भी आनन्द से चल रही थी।

एक बार बगीचे का मालिक अपने मित्रों के साथ वहां आया और इब्राहीम को आम लाने की आज्ञा दी! कुछ पके-पके आम मालिक के सामने रखे गये, पर खाने पर वे खट्टे निकले। मालिक ने भुंभलाकर कहा—“तुम्हें इतने दिन यहां रहते हो गए, अभी तक पता नहीं चला कि किस वृक्ष के आम खट्टे हैं और किसके मीठे?”

इब्राहीम ने हंसकर कहा—“आपने मुझे बगीचे की रक्षा के लिए रखा है, फल खाने के लिए नहीं। बिना आपकी आज्ञा के मैं फल कैसे चख सकता था, और बिना चखे खट्टे-मीठे का पता कैसे लगता?” ●

महान् कौन ?

भक्त भगवान से भी महान् है ?

हां,

पर, कब ?

जब भक्त के अन्तःकरण में भगवान का निवास होता है ।

भगवान भक्त के अन्तःकरण में तब आते हैं जब वह सत्य, समता एवं शुचिता के जल से पवित्र हों, शील, सदाचार, सहिष्णुता, सेवा और करुणा के पुष्पों की मधुर सौरभ से सुवासित हों । भगवान उसी भक्त पर प्रसन्न होते हैं—जो पर-दार, पर-द्रव्य एवं परहिंसा से विरत हो ।

ऐसा भक्त भगवान से भी महान् होता है ! पौराणिक रूपक है—

एक बार देवर्षि नारद ने स्वयं भगवान से ही यह प्रश्न किया—संसार में सबसे महान् कौन है ?

भगवान ने देवर्षि नारद की ओर गंभीरता पूर्वक देखा, और कहा—यह पृथ्वी सबसे बड़ी दीखती है,

लेकिन इसे तो समुद्र ने घेर रखा है, इसलिए पृथ्वी से तो समुद्र बड़ा है। और समुद्र को तो अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः अगस्त्य समुद्र से भी बड़े हैं। किंतु इस अनन्त आकाश में अगस्त्य का क्या स्थान है? वह तो एक जुगनू की भांति चमक रहा है, उससे तो बड़ा आकाश है।

भगवान प्रश्न को घुमाते हुए आगे ले गये। नारद का धैर्य विचलित होने लगा—फिर क्या आवाश ही सबसे बड़ा है?

देवर्षि ! आकाश को भी तो विष्णु के वामन अवतार ने एक ही पग में नाप लिया था, अतः आकाश से भी महान् है भगवान् ! किंतु उन भगवान को भी तुम (भक्त) अपने नन्हे से हृदय में अवरुद्ध किए बैठे हो, अतः देवर्षि ! इस पृथ्वी पर तुम (भक्त) से महान् और कोई नहीं है, भक्त ही सबसे महान् है।” ●

विष्णु पुराण ३।८।१४

सबसे बड़ा कृतघ्न ?

“संसार में सबसे बड़ा उपकारी कौन है ?” एक जिज्ञासु ने पूछा ।

रेशम का वह कीड़ा—जो जीवन भर अविरत श्रम करके मनुष्य को इतनी सुन्दर मूल्यवान् वस्तु तैयार करके देता है ।

समुद्र की वह सोप—जो अपनी सुन्दर चमकीली देह को तिल-तिल गलाकर मनुष्य के लिए उज्ज्वल बहुमूल्य मोती तैयार करती है ।

उपवन की वह मधुमक्खी—जो वन-वन भटक कर कण-कण मधुरस का संग्रह करके मानव के हाथों अपना मधुकोष लुटा देती है ।

—दार्शनिक ने एक साथ तीन उत्तर दिए ।

और संसार में सबसे बड़ा कृतघ्न कौन हैं ? —पुनः एक प्रश्न की ध्वनि गूँज उठी !

उसी की अनुगूँज में एक ध्वनि आई—“मनुष्य ! जो अपने तुच्छ भोग के लिए उस कीड़े का जीवनरस चूसता है, सीपी के हृदय को चीरता है और मधुमक्खी के शांत एकान्त घरोंदे में आग लगाकर अटटहास के साथ नाच उठता है ।”

निर्माता और विजेता

दार्शनिक चिन्तन के मूल ध्रुव हैं - सत् असत् !

राजनीतिक चिन्तन की धुरा है—निर्माण और विजय !

कभी-कभी चिन्तन की गहराई में उतरता हूं तो लगता है—जीवन और जगत के ये ही दो पहलू हैं—सत् का निर्माण और असत् पर विजय ! शुभ का निर्माण और अशुभ का संहार। यही जीवन का क्रम है। यही संसार के इतिहास की आवृत्ति है। किंतु कभी-कभी यह क्रम विपरीत हो जाता है। तब निर्माण श्रमनिष्ठा का प्रतीक होता है, विजय-विध्वंस का सूचक !

विजय—उतनी कठिन नहीं है, जितना कठिन निर्माण है। विजय से अधिक निर्माण का गौरव है। जीवन में निर्माण की कल्पना अधिक भव्य एवं उपयोगी है, विजय की कल्पना—उतनी रम्य एवं उपयोगी नहीं है। निर्माण के साथ आनन्द की किलकारी है तो विजय के पीछे रुदन की प्रतिध्वनि भी छिपी है।

एक दार्शनिक के दो पुत्र थे। एक बार छोटा पुत्र उसके सामने बैठा लकड़ी का महल बना रहा था और बड़ा पुत्र इतिहास की पुस्तक खोले बड़े ध्यान से पढ़ रहा

था ; बड़े पुत्र ने पिता से पूछा—“पिताजी ! इतिहास में कुछ वीर साम्राज्य के विजेता कहे जाते हैं, और कुछ साम्राज्य के संस्थापक । इसमें क्या अन्तर है ?”

तभी छोटे पुत्र ने आनन्द में उछलकर कहा—
“पिताजी ! मेरा महल तैयार हो गया ।”

बड़े भाई ने डांटा—“चुप रह ! बोच में दखल कर रहा है,” और हाथ के एक झटके से उसका महल धरा-शायी बना दिया ।

छोटा भाई रोने लगा, बड़ा उस पर खिसिया रहा था । पिता ने कहा—“बेटा ! बस तेरा छोटा भाई ‘निर्माता’ और तुम ‘विजेता’ हुए ! उसके निर्माण के पीछे आत्मतृप्ति है, तुम्हारी विजय के पीछे आक्रोश ! ●

नाम और काम

सिद्धि नाम से नहीं, कर्म से मिलती है। यदि कर्म सुन्दर है, श्रेष्ठ है, तो असुन्दर प्रतीत होने वाला नाम भी चमत्कार दिखा सकता है।

नाम का सुन्दर साईनबोर्ड लगाकर यदि काम में 'रेवड़ी का नाम गुलसप्पा' है, तो वह संसार में हेय समझा जाता है। उसीके लिए कहावत है—“नाम मोटे दर्शन खोटे।”

आज संसार में नामों की महिमा हो रही है। रूप में 'कालीचरण' होते हुए भी लोग अपना नाम 'गुलाबचन्द' रखना चाहेंगे। पास में एक नया पैसा न हो, पर नाम तो 'लखपतराय' या 'धनराज' ही पसन्द किया जाता है। किंतु जब मनुष्य भीतर की गहराई में देखता है, नामों के लेबल हटाकर असलियत को देखता है तो उसके भ्रम यों हट जाते हैं जैसे दक्षिणी पवन से बादलों के काले भुंड !

बौद्धजातक की एक कहानी नाम के व्यामोह और उसकी असलियत पर सुन्दर प्रकाश डालती है।

तक्षशिला में बोधिसत्व के पांच सौ शिष्यों में एक 'पापक' नाम का शिष्य था। एक बार पापक अपने नाम के विषय में सोचता हुआ खिन्न हो उठा। आचार्य के पास आकर निवेदन किया—“आर्य ! मेरा नाम अमांगलिक है, अतः मुझे कोई दूसरा सुन्दर नाम दीजिए ! सुन्दर नाम से ही सिद्धि मिल सकती है।”

आचार्य ने 'पापक' के आग्रह का समाधान करने के लिए कहा—“जाओ ! नगर में जो सुन्दर शोभन नाम लगे वह खोज कर ले आओ, तुम्हें उसी नाम से पुकारूंगा।”

पापक घूमता हुआ एक बड़े नगर में पहुँचा। वहाँ असंख्य नर-नारियों के भुँड इधर उधर घूम रहे थे। पापक बड़े गौर से देख रहा था, तभी कुछ व्यक्ति एक शव को अर्धीपर चढ़ाए चले जा रहे थे। पापक ने पूछा—“बन्धु ! इस मृत मानव का नाम क्या है ?”

शवयात्रियों ने कहा—“जीवक !”

पापक सुनकर विचार में पड़ गया—“क्या 'जीवक' भी मर सकता है ?” पापक इसी विचार में लीन आगे बढ़ा तो देखा, कि एक नारी को कुछ लोग रस्सियों से पीट रहे हैं। उसकी पीठ नंगी है, और मारे दर्द के वह कराह रही है। पापक के मन में करुणा की हिलोरें उठीं, उसने संतप्त वाणी में पूछा—“बन्धुओ ! इस अबला को

क्यों मार रहे हो ?”

प्रहारक ने ब्रह्मचारी को सामने खड़ा देखकर विनम्रता से कहा—“यह हमारी दासी है, बड़ी अधर्मिणी, दुराचारिणी है, यह दिन भर इधर उधर भटकती रहती है। आज सुबह से किसी द्रुष्ट पुरुष के साथ चली गई सो अब पकड़ में आई है, ब्रह्मचारी ! दुराचार की यही तो शिक्षा होनी चाहिए न ?”

पापक का मन उद्विग्न हो उठा। उसने पूछा—“इसका नाम क्या है ?”

‘शीलवती !’ लोगों ने दासी की ओर घूरकर कहा।

पापक आश्चर्य चकित-सा देखता रहा “क्या शीलवती भी दुराचारिणी हो सकती है ?” पापक का मन उद्विग्न हो उठा, और वह पुनः नगर से आश्रम की ओर आने लगा। रास्ते में उसे एक पथिक मिला। पापक को देख वह निकट आया और बोला—“ब्रह्मचारी ! मैं रास्ते से भटक कर कब से यहाँ भूखा प्यासा बैठा हूँ, कृपया तुम अमुक नगर का मार्ग बताओ।”

पापक ने पूछा—“तुम्हारा नाम क्या है ?

पथिक—“मेरा नाम है पंथक !”

पापक चौंक उठा—“क्या पंथक भी पथ भूल जाते हैं ?” अब तो पापक किसी दंश-पीड़ित की तरह तिलमिलाता हुआ आचार्य के निकट पहुँचा और चरण पकड़कर बोला—

“आर्य ! मेरा नाम जो है वही ठीक है, ‘जीवक’ को मैंने मरते देखा है, ‘शीलवती’ को दुराचार के कारण दंड पाते देखा है और ‘पंथक’ को पथ भूलकर भटकते देखा है। आर्य ! मैंने समझ लिया है—“नाम सिर्फ पहचान के लिए है ! उससे साधना में कोई अन्तर नहीं आता !” ●

अपना मार्ग खुद देखो

मानव स्वभाव की एक सहज दुर्बलता है—वह दूसरों के लिए सोचता है, दूसरों के लिए लिखता है और दूसरों के लिए ही जीता है। उसके समस्त ज्ञान-विज्ञान का ध्रुव है—पर-दर्शन, पर-रंजन।

मानव ज्ञान-विज्ञान की दिशा में आज उच्च शिखर पर पहुंच रहा है, उस ज्ञान से जगत में आलोक बिखेरना चाहता है, किंतु अपने जीवन के पथ में कितना अंधकार गहरारहा है, इसका उसे पता तक नहीं। दूसरों को मार्ग दिखाता हुआ स्वयं गड्ढे में गिर पड़ता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—‘संपिक्खए अप्पगमप्पएणं’ अपने ज्ञान चक्षुओं को खोलकर पहले अपना ही मार्ग देखो।”

एक खगोलशास्त्री महोदय रात के भिलमिल प्रकाश में कहीं जा रहे थे। आकाश में तारे चमक रहे थे, खगोलशास्त्री चलते-चलते ही कल्पना के फीते से उनकी दूरी

नाप रहे थे, “चन्द्र से मंगल इतनी दूर है, शुक्र इतना और शनि इतना !”

आकाश की ओर मुंह किए चलते-चलते खगोल-शास्त्री जी सहसा धड़ाम से एक गड्ढे में गिर पड़े। पीछे-पीछे आते एक पथिक ने आगे के यात्री को गिरा देखा तो लपक कर निकालने दाड़ा। शास्त्री जी के हाथ पकड़ते हुए उसने कहा—“इतना बड़ा गड्ढा भी दिखाई नहीं दिया, किधर देख रहे थे।”

“भाई ! मुझे क्या पता आगे गड्ढा है, मैं तो आकाश के नक्षत्रों की दूरी नाप रहा था।”

“ओह ! समझा, आप ज्योतिषी हैं। विद्वान लोग हमेशा दूसरों का ही रास्ता देखते हैं, यदि अपना रास्ता भी जरा देख लेते तो ये हाथ पांव टूटने की नौबत क्यों आती ?” यात्री ने व्यंगपूर्वक देखा और आगे चल दिया।



चमत्कार बनाम सदाचार

साधना, चमत्कारों की प्रसवभूमि है, किंतु चमत्कार साधना का आदर्श नहीं है, न उद्देश्य ही है।

साधना का उद्देश्य है—शुद्धि, आत्म-शुद्धि से प्राप्त होती है सिद्धि ! सिद्धि मिलने पर प्रसिद्धि स्वतः दौड़कर आती है जैसे फूलों के पीछे भौंरे।

शुद्धि और सिद्धि की उपेक्षा करके केवल प्रसिद्धि की कामना, साधना का दोष है। महान् आत्म-साधक भगवान् महावीर ने कहा है—‘नोपूयणं तवसा आवहेज्जा।’ तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

तथागत ने कहा था—जो केवल प्रसिद्धि के पीछे पड़कर लोगों को चमत्कार, मोहक आकर्षण व वशीकरण करता है, उसने वास्तव में धर्म को जाना ही नहीं है।”

एक बार किसी नगर में बहुमूल्य चन्दन का रत्नजटित प्याला ऊंचे खंभे पर टंगा था, जिसके नीचे लिखा हुआ था—“जो कोई साधक, सिद्ध योगी इस प्याले को बिना किसी हस्त स्पर्श के केवल चमत्कारमय यौगिक शक्ति से उतार लेगा उसकी सारी इच्छाएं पूर्ण की जायेंगी।”

कुछ समय बाद बुद्ध का शिष्य कश्यप उधर से गुजरा। उसने दूर खड़े रहकर मंत्र-शक्ति से प्याले का आह्वान किया, जैसे ही हाथ ऊपर को बढ़ा, प्याला उसके हाथ में आ गया। पहरेदार व दर्शक चकित हुए कश्यप के पीछे पीछे बौद्ध विहार में आये।

कुछ ही क्षणों में विशाल भीड़ जमा हो गई। भीड़ ने 'भगवान बुद्ध की जय' बोली, जिनके कि कश्यप जैसे महान् साधक शिष्य है।

बुद्ध स्वयं कश्यप के पास पहुंचे, एक झटके में ही उस प्याले को भूमिपर पटक कर तोड़ डाला, और शिष्यों को सम्बोधित करके बोले — "मैंने तुम लोगों को चमत्कार प्रदर्शन के लिए बार-बार मना किया है। यदि तुम्हें इन मोहक, वशीकरण, आकर्षण आदि चमत्कारों से ही जनता को प्रभावित करना है, तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि तुम लोगों ने धर्म को समझा ही नहीं है। अपना कल्याण चाहते हो तो चमत्कार से बचकर सदाचार का अभ्यास करो, सदाचार ही संसार का महान् चमत्कार है।" ●

गाली कहाँ जायेगी ?

नीची भूमि पर खड़ा मनुष्य यदि आकाश में धूल उछाले, तो वह धूल गिर कर उसी के ऊपर आयेगी। इसी प्रकार किसी को कहे हुए दुर्वचन, गाली और अपशब्द वापस लौटकर बोलने वाले के पास ही आते हैं। अथर्व वेद में एक सूक्त है—शप्तारमेतुः शपथ !^१ शाप—(आक्रोश-गाली) शाप देने वाले के पास ही लौटकर आ जाता है।

बौद्ध ग्रन्थों में तथागत बुद्ध के जीवन का एक स्वर्ण-प्रसंग उद्धृत है। एक बार भारद्वाज नाम का कोई ब्राह्मण बुद्ध के पास भिक्षु बन गया। भारद्वाज को दीक्षा देने से उसका एक सम्बन्धी उत्तेजित हो उठा। वह आक्रोश में बड़बड़ाता तथागत के पास पहुँचा और बुरे-बुरे शब्दों में तथागत की हीलना करने लगा। शांत मौन भाव से बुद्ध सुनते रहे।

१ अथर्वेद २।७।५

अकेला बोलते-बोलते ब्राह्मण थक गया। गाली तो गाली से बढ़ती है। प्रत्युत्तर में गाली नहीं मिली तो ब्राह्मण चुप होकर तथागत की ओर घूरने लगा।

ब्राह्मण को शांत हुआ देख तथागत बोले—“क्यों भाई ! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते हैं ?”

“आते तो हैं”—ब्राह्मण ने रोष पूर्वक कहा।

“तुम उनका सत्कार करते हो ?”

‘कौन मूर्ख है, जो अतिथि का सत्कार नहीं करेगा’—ब्राह्मण झल्लाकर बोला।

“तुम्हारी अर्पित वस्तुएं, मिष्टान्न आदि सामग्री यदि अतिथि स्वीकार न करें तो वे कहाँ जायेगी ?”—बुद्ध ने पूछा।

ब्राह्मण भुंभला कर बोला—“वे कहाँ क्या जायेगी, मेरी वस्तुएं मेरे ही पास रहेगी।”

“तो भद्र ! तुम्हारी दी हुई गालियां मैं स्वीकार करना नहीं चाहता। अब यह गाली कहाँ जायेगी ?”

बुद्ध के शांत वचन से ब्राह्मण का क्रोध शांत हो गया। वह अपने आप पर लज्जित हो, मौन भाव से चरणों में विनत हो गया। ●

एक छिद्र !

दुर्गुण जीवन के छिद्र हैं ।

एक ही छिद्र नौका को डुबोने के लिए काफी है, वैसे ही जीवन में एक भी दुर्गुण हो, तो वह व्यक्ति को संसार की यात्रा में मंभधार में ही डुबो देता है ।

जैसे — जाउ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी^१

—छिद्र वाली नौका उस पार नहीं जा सकती, वैसे ही दुर्गुणों से आक्रांत जीवन अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता ।

एक बार तथागत बुद्ध के शिष्य परस्पर चर्चा कर रहे थे—“संसार में कौन सा दुर्गुण मानव का शीघ्र पतन करता है ?”

किसी ने कहा—“सुरा से मनुष्य शीघ्र नष्ट हो जाता है ।”

किसी ने कहा—“सुन्दरी ही मानव जाति के पतन का कारण रही है ।”

तभी एक भिक्षु ने कहा—“सुरा, सुन्दरी तभी पतन का मार्ग दिखाती है जब संपत्ति पास में हो।”

भिक्षुओं में इस प्रश्न को लेकर विवाद खड़ा हो गया। वे जिज्ञासा लिए तथागत के निकट पहुँचे।

तथागत ने समाधान की भाषा में कहा—“एक सूखा हुआ तुम्बा है, उसमें कहीं कोई छिद्र नहीं है, यदि उसे पानी में डाला जाये तो क्या वह जल में डूबेगा?”

“नहीं, भन्ते !” —सभी ने एक स्वर से कहा।

“यदि उसमें, एक, दो, या अनेक छिद्र कर दिए जायें तो……?” तथागत ने भिक्षुओं की ओर देखा।

“तो, भन्ते ! वह डूब जायेगा।” —भिक्षुओं ने कहा।

“भिक्षुओ ! सुरा, सुन्दरी, संपत्ति आदि सभी छिद्र हैं, जैसे एक ही छिद्र तुम्हें को डूबो देता है, वैसे ही एक भी दुर्गुण क्यों न हो, वह जीवन को डूबो देता है, पतित कर देता है।”

क्रोध का स्वरूप

भीषण निदाघ का प्रतीकार है—सघन जल वर्षा ?
 उद्दीप्त क्रोध का प्रतीकार है—मधुर क्षमा !
 भगवान महावीर ने क्रोध का एकमात्र उपचार
 बताया है—

उवसमेण हणे कोहं—^१

क्रोध को क्षमा से ही जीता जा सकता है ।

और यही बात तथागत ने कही है—

अक्कोधेन जिने कोधं^२

अक्रोध से क्रोध को जीतो !

धी की आहुति से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती है, वैसे ही क्रोध से क्रोध बढ़ता है । जल से अग्नि शांत होती है, क्षमा से क्रोध नष्ट हो जाता है ।

जैन पुराणों की आख्यायिका है । एक बार वासुदेव श्री कृष्ण, बलदेवजी एवं सात्यकि वन भ्रमण को गये तो

रास्ता भूल कर भटक गये। बियावान जंगल में एक वृक्ष के नीचे ही तीनों ने रात बिताने का निश्चय किया। रात्रि के प्रथम प्रहर का अर्धभाग और अंतिम प्रहर का अर्धभाग सामान्यतः जागरण का समय था, प्रश्न था बीच के तीन पहर में सुरक्षा का। निश्चय किया गया, 'तीनों क्रमशः एक-एक पहर पहरा देंगे।'

रात गहरी हो गई थी। सांय-सांय की आवाजों से जंगल की भीषणता भयावनी हो गई थी। सात्यकि पहरा दे रहे थे कि तभी एक दैत्य ने अट्टहास के साथ ललकारा—“ऐ पागल मनुष्य ! तुझे अपनी जान प्यारी है तो मुझे इन दोनों का भक्षण करने दे।”

सात्यकि की नंगी तलवार अंधकार को चीरती हुई चमक उठी—“कौन है तू ! आ, अभी तेरा काम तमाम किए देता हूँ।” सात्यकि ज्यों ज्यों दैत्य से टकराता गया, दैत्य अपने विकराल रूप को फैलाता चला गया, उसके पैर पाताल को छू रहे थे और हवा में उड़ते हुए बिखरे केश आकाश को चूमने लगे थे। पहर भर सात्यकि दैत्य के साथ जूझता रहा। उसका नख-नख दर्द करने लगा।

सात्यकी ने बलदेवजी को जगाया। बलदेव पहरा देने लगे, सात्यकी सो गया। कुछ ही क्षणों में दैत्य के अट्टहास से पुनः दिशाएँ प्रकम्पित हो उठीं। बलदेव जी ने दैत्य को ललकारा, दोनों भिड़ गए, जैसे दो मत्तगजराज ! पहर भर तक दोनों का मल्लयुद्ध चलता

रहा। दैत्य अपना रूप फैलाता रहा, दिशाओं को हाथों से छूने लगा। बलदेव उसके विकराल रूप से सिहर उठे। तभी पहर बीत गया। दैत्य पुनः सिमट कर छुई-मुई हो गया।

श्री कृष्ण जगे। सात्यकि और बलदेव दर्द से कराहते हुए नींद में घरेर रहे थे।

ऐ क्षुद्र मानव ! अपना भला चाहता है तो इन दोनों को छोड़कर भागजा। “ही....ही...ही....” दैत्य के क्रूर अहट्टास से वन-प्रान्तर कांपकांप उठे।

“तुम अच्छे आये मित्र ! आओ, मजे से रात कटेगी, मित्रों के साथ कुश्ती लड़ने का आनन्द ही दूसरा है, आओ ! आओ।” श्री कृष्ण ने मधुर हास्य के साथ पुकारा।

दैत्य क्रोध में पागल हो उठा। दुगुने वेग से वह श्री कृष्ण पर भपटा। पर श्री कृष्ण तो उसे यों खिलाने लगे जैसे कुशल पहलवान नौसिखिये पहलवान के साथ कुश्ती खेलकर उसे दांव फैंकना सिखा रहा हो। वह क्रोध में उछलता, तो कृष्ण एक ओर दुबक जाते, वह दांत पीसता, तो श्री कृष्ण हंसने लगते, वह गिर पड़ता तो श्री कृष्ण उसको प्रोत्साहित करने लगते। दैत्य अपने आप हारने लगा, उसका बल क्षीण होता गया, घटते-घटते उसका आकार एक छोटे कीड़े जितना रह गया। श्री कृष्ण ने उसे पकड़कर दुपट्टे के छोर से बांध लिया।

प्रातः तीनों उठे । सात्यकी का मुँह और घुटने फूल रहे थे । घावों में रक्त बह रहा था । श्री कृष्ण ने हंसकर पूछा—“यह क्या हो गया तुम्हें ?”

सात्यकि ने रात्रि के दैत्य की बात सुनाई । बलदेव जा भी बोले—“बड़ा भयानक दैत्य था वह ! मुझे भी बहुत तंग किया उसने !” श्री कृष्ण ने दुपट्टे का छोर खोल कर कीड़े को सामने रखा—“यह है वह दैत्य ! तुम इसे पहचान नहीं पाये, यह तो क्रोध है । जितना क्रोध करो, यह बलवान होता है, बढ़ता है, और मुस्कराओ तो यह समाप्त हो जाता है—यही इसका स्वरूप है ।” ●

सच्ची दृष्टि

महाभारत में कहा है—“जो रूप, धन, बल विद्या आदि अज्ञानी मनुष्यों के लिए मद (अहंकार) का कारण बनते हैं, वे ही ज्ञानी साधकों के लिए उलटे-अर्थात् दम (म-द=द-म) वैराग्य के कारण बन जाते हैं।”^१

यहीं बात भगवान महावीर ने यों कही है—

“जे आसवा ते परिस्सवा”^२

जो बंध के कारण हैं, वे ही मुक्ति के कारण भी हो सकते हैं। जिस शरीर को साधारण मनुष्य सुन्दर एवं ललित मानकर उससे मोह करता है, साधक उसे ही —“इमं सरीरं अणिच्चं असुई-असुई-संभवं”^३—यह

१ विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनोमदः

सदा एतेव लिप्तानामेतएव सतां दमाः ।

महा० उद्योग ३४।४४

२. आचारांग १।४।६

३. उत्तराध्ययन १६

शरीर अनित्य है, अशुद्धि से उत्पन्न हुआ है, अशुचिमय-हाड-मांस का ढाँचा मात्र देखता है। यही तो आत्मसाधक की सच्ची दृष्टि है, जो सौन्दर्य के कृत्रिम आवरणों की परतों को भेद कर अन्तःस्थित वास्तविकता को देखती है।

लंका का अनुराधपुर बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा है। नगर की सीमा के बाहर एक टीला है जिसे चैत्य पर्वत (ज्ञानशिखर) कहा जाता है। महान अध्यात्मसाधक स्थविर महातिष्य उसी टीले पर अपनी साधना किया करते थे। एकबार महातिष्य नगर में भिक्षा के लिए जा रहे थे। एक यौवन मदिरा पी हुई कुलवधू पति से झगड़कर मायके जाती हुई मार्ग में सामने आ गई। स्थविर की तेजोदीप्त मुखमुद्रा चन्द्रकांत मणि की भांति चमक रही थी। कुलवधू वहीं ठिठक कर भिक्षु को देखने लगी, और फिर कामोद्दीपक मधुर हास्य बिखेरने लगी। स्त्री के हंसने पर भिक्षु की दृष्टि उसके दांतों पर पड़ गई। आत्मचित्तन में लीन भिक्षु दांतों की हड्डियों की असारता पर चिन्तन करते-करते वहीं बोधि (अर्हत्व) प्राप्त हो गए।

उस स्त्री का पति, पीछे से दौड़ा-दौड़ा पत्नी की खोज करता-करता उधर आया। भिक्षु को आते देख कर उसने पूछा—“भंते ! इस मार्ग पर अभी सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत किसी सुन्दरी स्त्री को जाते देखा है आपने ?”

स्थविर ने आँखें ऊपर उठाई और कहा—‘इधर से कोई स्त्री गई या पुरुष, यह मैं नहीं जानता, हां, अभी अभी इस मार्ग से एक हड्डियों का ढाँचा तो निकला है—

नाभि जानामि इत्थीवा पुरिसो वा इतो गतो ।
अपि च अट्ठसंघाटो गच्छते स महापथे ॥’

अपना मांस ?

आधुनिक यूरोप के साहित्य-शिल्पी जार्ज बर्नार्डशा ने एक प्रसंग पर कहा था— “कब्रिस्तान में सिर्फ मुर्दा प्राणी दफनाए जाते हैं, किंतु जो मांस खाते हैं, उनके पेट तो सचमुच जिन्दा प्राणियों के कब्रिस्तान हैं।”

‘मांस भक्षण’ मनुष्य के मन की घोर क्रूरता का प्रतीक है। जिसके मन में तनिक भी पर-पीड़ा की अनुभूति है, वह मांस भक्षण नहीं कर सकता। मनुस्मृति में ‘मांस’ की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।^१

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१॥

— मैं यहां पर जिसका मांस खाता हूँ, मुझको भी वह (मांसः) परलोक में खायेगा। यह मांस की परिभाषा है।

मनुष्य यदि अपने मांस से दूसरे के मांस की तुलना

१. मनुस्मृति ७।५५

करे तो शायद वह मांसभक्षण की कल्पना से ही सिहर उठे ।

जैन ग्रन्थों की एक प्राचीन आख्यायिका है । एक बार मगध नरेश श्रेणिक की सभा में कुछ मांस-लोलुप सामंतों ने मांस-भक्षण के शारीरिक एवं आर्थिक लाभ बताए—“मांस जैसा सस्ता और पौष्टिक खाद्य दूसरा नहीं है ।”

महामात्य अभय ने कहा—“यह आप लोगों का भ्रम है, मांस जैसा मँहगा पदार्थ और कुछ है ही नहीं ।”

महाराज ने बात का प्रमाण चाहा । अमात्य ने उसके लिए समय की मांग की ।

रात के द्वितीय प्रहर में जब संसार निद्रा-लीन था, महामात्य घबराए हुए से एक सामंत के द्वार पर पहुँचे । “भाई, अपने पर बड़ी विपत्ति आ पड़ी है, महाराज सहसा भयंकर रोग से ग्रस्त हो गए हैं, और वैद्यों का कहना है, दवा के साथ किसी मनुष्य के कलेजे का मांस चाहिए, सिर्फ दो तोला ! स्वामी की प्राण रक्षा के लिए अपनी राज-भक्ति का परिचय आप देंगे इसी विश्वास से मैं स्वयं आपके द्वार पर आया हूँ ।”

सामंत के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं । “कलेजे का माँस !” कल्पना करते ही उसकी धमनियों में रक्त जम गया । उसने हाथ जोड़े—“महामात्य ! आप बुद्धिनिधान है, मुझ पर दया कीजिए, आप कहीं से भी किसो मनुष्य का मांस खरीद सकते हैं, उसके लिए हजार-लाख जितनी

भी स्वर्ण मुद्राएं देनी हों चरणों में अर्पित हैं। पर मुझे जीवन दान दीजिए।

लाख स्वर्ण मुद्रा लेकर महामात्य ने दूसरे सामंत के द्वार खटखटाए। उसे महाराज की अस्वस्थता और दो तोला मांस की आवश्यकता बतलाई, बदले में राज्य की ओर से एक लाख स्वर्ण मुद्रा का उपहार और आदर्श राजभक्ति का प्रमाण पत्र भी।

सामंत गिड़गिड़ा कर चरणों में गिर पड़ा। “महामात्य ! मुझ पर दया कीजिए, ये दो लाख स्वर्ण मुद्रा चरणों में रखता हूँ, कृपा कर कहीं से किसी अनाथ दीन का मांस खरीद कर महाराज की चिकित्सा करवाइए।”

रात्रि के सघन अंधकार में अभयकुमार विवेक का दीपक लिए अनेक सामंतों के हृदय का अन्तर पट-खोल-खोल कर देख आये। लाखों स्वर्ण मुद्राओं का भार लिए लौट आये, दो तोला मांस कहीं नहीं मिला।

दूसरे दिन महाराज राजसभा में प्रसन्न मुद्रा में उपस्थित थे। महामात्य ने पिछले सप्ताह की चर्चा के प्रकाश में रात्रि की घटना का रहस्य खोला। और स्वर्ण मुद्राएं सिंहासन के सामने रखते हुए बोले—“महाराज ! दो तोला स्वर्ण के बदले ये लाखों स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। स्वर्ण मुद्राओं की चमक से सामंतों के मुख मलिन पड़ गए।

अभयकुमार ने महाराज की ओर देखा, फिर सामंतों के नीचे झुके मलिन मुखों की ओर देख कर कहा—

स्वमांसं दुर्लभं लोके लक्षेनापि न लभ्यते ।

अल्पमूल्येन लभ्येत, पलं पर-शरीरजम् ॥

“महाराज ! संसार में अपना मांस दुर्लभ है, कोई लाख रुपए लेकर भी अपना एक तोला मांस देना नहीं चाहता । किंतु दूसरे का मांस वे कुछ पैसों में ही खरोद लेते हैं, इसलिए उन्हें वह सस्ता लगता है । यदि दूसरे के मांस की तुलना अपने मांस से करे तो...?”

अपने आइने में

आँखों पर जब अहंकार का रंगीन चश्मा चढ़ जाता है, तो मनुष्य सर्वत्र अपने चश्मे जैसा रंग ही देखता है। उसे लगता है, सब सृष्टि उसी के रंग में रंगी है, वह न हो, तो सृष्टि के यंत्र ढीले पड़ जायेंगे।

अहंकार की चरम सीमा तो इससे भी आगे है, जहाँ उसे बड़े-बड़े भूखंड एक घरोंदे के समान प्रतीत होते हैं और अपना छोटा-सा घरोंदा विशाल उपवन से भी अधिक रमणीय ! मनुष्य की इस आत्म वंचना की व्याख्या करके उसे जागरूक करने वाले युग द्रष्टा महावीर ने कहा है— “अन्नं जणं पस्सति बिबभूयं” — अज्ञानी अहंकार में दीप्त होकर अन्य महान्तम विभूतियों को भी एक बिम्ब— परछाईं मात्र देखने लगता है। पर कोई उसे आत्म-ज्ञान के दर्पण में जब अपनी लघुतम परछाईं दिखाए तो...तो उसकी वाणी निरुत्तर हो जाती है, प्रज्ञा स्तब्ध रह जाती है।

एक चीनी लोक कथा है—‘जो विज्डम आफ चाइना’ में संकलित की गई है।

बहुत समय पहले चू-प्रदेश में एक लुहार रहता था, जो बहुत तेज भाले लौर मजबूत ढाल बनाता था। उसे अपनी निर्मित वस्तुओं का बड़ा भारी अहंकार था। वह शेखी में अपनी ढाल के लिए कहता—“संसार की कोई वस्तु इस ढाल को नहीं छेद सकती।”

और अपने भाले के लिए कहता—“इतने तेज और नुकीले भाले कहीं नहीं मिलते। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें मेरे ये भाले छेद नहीं कर सके।”

एक दिन एक व्यक्ति ने उससे पूछा—“और यदि तुम्हारे ही भाले से तुम्हारी ढाल में छेद करना चाहे तो क्या होगा?”

गर्वीला लुहार निरुत्तर था। अपने आइने में अपनी काली कलौंठी तस्वीर उसने पहली बार देखा। ●

चार वर्ग

जैन वाङ्मय के मनीषीशिल्पी आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—“जैसे सुनिर्मित नाव भी पवन के बिना समुद्र यात्रा में असमर्थ होती है, वैसे ही सुनिपुण साधक भी तप एवं संयम की साधना के अभाव में संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकता।”

वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिऊं ।

निउणो वि जीव पोओ, तव संजम मारुअ-विहूणो॥^१

कुछ साधक शील (सदाचार) को महत्व देते हैं, पर उनमें श्रुत (ज्ञान) की ज्योति सर्वथा क्षीण प्राय होती है। कुछ साधक ज्ञान के आलोक से जगमग करते हैं, किंतु उनमें सदाचार की सुवास नहीं होती। कुछ शील और श्रुत दोनों के मणि कांचन योग से दीप्तिमान होते हैं तो कुछ श्रुत और शील की श्री से सर्वथा हीन, निस्तेज अग्निपिंड—राख की भांति मलिन जीवन जीते हैं।^२

१ आवश्यक नियुक्ति, ६५-६६ २ भगवती सूत्र

भगवान महावीर द्वारा भगवती सूत्र में वर्णित उपर्युक्त विचार शैला को बौद्ध ग्रन्थ 'पुग्गलपज्जत्ति' में चार चूहों के रूपक द्वारा व्यक्त किया है—

चार प्रकार के चूहे होते हैं। एक वे, जो स्वयं खोदकर बिल बनाते हैं, पर उसमें रहते नहीं।

दूसरे वे, जो बिल में रहते हैं, पर स्वयं नहीं खोदते।

तीसरे वे, जो स्वयं बिल भी बनाते हैं और उसमें रहते भी हैं, तथा चौथे वे, जो न तो बिल बनाते हैं और न ही बिल में रहते हैं।

मनुष्य भी इसी प्रकार चार विभागों में बंटे हैं। प्रथम वे, जो शास्त्र पढ़कर भी उसे जीवन में नहीं उतारते। दूसरे वे, जो शास्त्र ज्ञानी न होकर भी जीवन में सिद्धान्त का साक्षात्कार करते हैं। तीसरे वे, जो शास्त्र ज्ञान भी प्राप्त करते हैं, और सत्य का आत्मानुभव भी, और चौथे वे, जो न शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न सत्य का आचरण। ●

सृष्टि का मूल

माता की ममता, बहन का स्नेह, भाई का प्रेम, मित्र का विश्वास, स्वजन का निजत्व किसी एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वह शब्द क्या है ?

दो अक्षर का वह शब्द है—“दया !”

दया अनन्त सुखों की कल्पवेल है, अमरता का अमृत घट है, कल्याण और परम आनन्द का अक्षय निधान है । जैन सूत्र दया की महिमा में मुखर होकर कहते हैं—

“एसा भगवती दया....”

यह दया भगवती है, भगवत्स्वरूपा है, प्राणियों को पृथ्वी की तरह शरण है, प्यासों को जलाशय की भांति आधार है ।

पुराने संतों की एक उक्ति आज भी प्रत्येक धर्म प्रवचन के प्रारंभ में दुहराई जाती है—

“दया सुखां री बेलड़ी, दया सुखां री खाण”....

आधुनिक युग के चिन्तक मनीषी टालस्टाय के शब्दों में ‘दया’ मानव सृष्टि का मूल है । टालस्टाय ने एक कहानी के माध्यम से ‘दया’ की महत्ता का दर्शन कराया है—

भगवान ने एक बार विचार किया—एक ऐसे प्राणी का निर्माण करूँ जो स्वर्ग तथा पृथ्वी के सभी प्राणियों में श्रेष्ठ हो। भगवान ने अपना विचार सत्य के सामने प्रकट किया तो उसने कहा—“भगवन् ! वह प्राणी दंभ और बेईमानी फैलाकर आपको बदनाम करेगा।”

तभी न्याय वहाँ पहुँच गया, उसने प्रार्थना की—“वह स्वार्थी बनकर सबको सतायेगा।”

शांति ने भगवान से हाथ जोड़कर निवेदन किया—“भगवन् ! वह प्राणी जगत को विनाश के कंगार पर ले जायेगा।”

तभी भगवान की एक छोटा सुकुमार लड़की ने आकर कहा—“पिताजी ! उस प्राणी का निर्माण अवश्य कीजिए। जब आपके सब दूत उसे सुधारने में असमर्थ हो जायेंगे तो मैं उसे सुधारूँगी।” उस छोटी लड़की का नाम था ‘दया’। भगवान ने दया की बात मानकर मानव का निर्माण किया। ●

परमधन

भौतिक धन से अभातिक आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। धन नश्वर है, आनन्द अविनश्वर ! धन बाहर से प्राप्त होता है, आनन्द अन्तःकरण से स्फूर्त होता है। वह आनन्द है—संतोष ! समता ! भगवान महावीर ने कहा है—

“धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?”^१

धन से धर्म का धुरा नहीं चल सकती ? छांदोग्य उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी कहती है—
“प्रिय ! आप जो धन मुझे देना चाहते हैं, उसे आप क्यों छोड़ रहे हैं ?”

याज्ञवल्क्य का उत्तर था “अमृतत्व की खोज ! मैं जिस अमर धन को पाना चाहता हूँ उसकी पहली शर्त है इस धन की लालसा का परित्याग।”

प्रबुद्धचेता मैत्रेयी पुकार उठती है—“येनाहं नामृता

१ उत्तरा० १४।१७

स्याम् किं तेन कुर्याम् ?”^१ जिस धन से मैं अमरता की उपलब्धि नहीं कर सकता, उसे पाकर भी क्या करूँ ? मुझे भी वही धन चाहिए जो अमृतत्व दे सके, अक्षय अजर आनन्द दे सके, और जिसे पाकर इस धन का लालसा मन से सर्वथा क्षीण हो जाये ।”

एक लोक कथा है । एक संत नदी के शांत तीर पर स्थित प्रज्ञ-से ध्यान लीन खड़े थे । एक दरिद्र ब्राह्मण धन के लिए दर-दर भटकता हुआ संत के चरणों में पहुंचा—“भगवन् ! मैं दीन-हीन प्राणी धन के अभाव में दर-दर भीख मांग रहा हूँ, भूख से बाल बच्चे विलख रहे हैं, दरिद्रता से प्रताडित मेरा जीवन सर्वथा दुःखमय हो रहा है ! प्रभो ! आप जैसे तपस्वी की कृपा दृष्टि हो जाये तो मेरा दारिद्र्य दूर हो सकता है ?”

ब्राह्मण की दीन दशा पर तपस्वी का मन पिघल गया । पर वह तो सर्वथा निष्कंचन था । देने के नाम पर उसके तन पर था एक कौपीन ! तपस्वी की शतमुखी करुणाधारा रुक नहीं सकी—“विप्र ! जरा सामने नदी के किनारे जो बालू का ढेर है, वहां देखो, हो सकता है तुम्हारा भाग्य नक्षत्र चमक उठे, वहां कल ही मैंने एक पारस मणि पड़ा देखा था ।”

हर्ष-विह्वल ब्राह्मण के पांव धरती पर नहीं टिके । वह दौड़ा आर बालू के ढेर में खोजने लगा । सचमुच

वहां पारसमणि पड़ा था। ब्राह्मण का रोम-रोम नाच उठा। उसने अपने हाथ में की लट्टी के किनारे जो लोहा लगा था, उसे छुआ, वह सोने की भांति चमक उठा। आनन्द विभोर ब्राह्मण आकाश की ओर देखकर नाच-नाच उठा।

दूसरे ही क्षण दरिद्र ब्राह्मण के हृदय में एक प्रकाश किरण फूट पड़ी, जैसे घने अंधकार में बिजली चमक उठी हो। भाव देखा न ताव, मणि को उठाकर यमुना में फेंका और तपस्वी के चरणों में पहुंचा। “करुणामय ! मुझे भी अब वह अमितधन दीजिए जिसे पाकर आपने पारस मणि को पत्थर की तरह तुच्छ समझा !”

संत के मुख से तीन अक्षरों का एक छोटा सा शब्द निकला—“संतोष !”

ब्राह्मण संत का सरस वाणी पर चिन्तन लीन हो गया। उसको चेतना में एक ध्वनि गूँज उठी—

“जब आवत संतोष धन सब धन धूलि समान !” ●

तुम महान् हो

लोहा अग्नि में पड़कर स्वयं अग्निमय बन जाता है ।
सोना अग्नि में पड़कर शुद्ध हो जाता है ।

पर, हीरा अग्नि में पड़कर भी अपने मूल स्वभाव में रहता है, उस पर अग्नि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

कुछ मनुष्य लोहे के समान कष्ट आने पर ऐसा दिखाते हैं जैसे समूचा जीवन ही एक कष्ट गाथा बन गई हो ?

कुछ मनुष्य सोने के समान कष्ट पाकर अधिक तेजस्वी प्रतीत होते हैं, जैसे कष्ट वरदान बनकर आये हों ।

कुछ मनुष्य हीरे के समान दुःखों की भावना एवं कष्टों की तपन से सर्वथा अस्पृष्ट रहते हैं, उन पर सुख-दुःख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

तथागत के जीवन का प्रसंग है । बुद्ध एक बार किसी अनार्य प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे । वहाँ के लोगों ने बुद्ध को बड़ी क्रूर यातनाएँ दीं । इस शरीर कष्ट को देखकर आनंद विचलित हो उठे । तथागत से अनुरोध किया—
“प्रभो ! यह गांव छोड़ दीजिए ।”

मंदस्मित के साथ तथागत बोले—“और यदि दूसरे गांव में यही भेंट मिली तो....?”

“देव ! हम उसे भी छोड़ देंगे....!”—आनन्द ने कहा ।

आंतरिक पुलक और धैर्य की मंद स्मिति में तथागत ने कहा—“वत्स ! एक यात्री दावानल बुझाने के लिए घर से निकला, मार्ग में जंगल की छोटी-छोटी चिनगारियां उछल-उछल कर गिरने लगीं तो क्या वह उनसे घबरायेगा ? हार कर लौट आयेगा ?”

“नहीं भंते ! वह अपने ध्येय की ओर बढ़ता ही जायेगा ।” आनन्द ने विनम्रता के साथ उत्तर दिया !

“वत्स ! हम भी जन्म-मरण का दावानल बुझाने निकले हैं, देह कष्ट की इन चिनगारियों से मुकाबला करते हुए आगे बढ़ते चले जाना है । निंदा-प्रहार से क्या, मरणदायी त्रास से भी नहीं घबराना है । आनन्द ! तुम महान् हो, अपनी महत्ता को समझो, अपने ध्येय का चिंतन करो.... सुख-दुःख से अप्रभावित रहने वाला ही सच्चा साधक होता है ।”



अमरता का घोष

कहावत है—“भय की सीमा मृत्यु है ।”

मृत्यु सबसे भयानक है, चूंकि मनुष्य अपने देह से, प्राणों से और जीवन से मोह करता है, मृत्यु देह को प्राणों से विलग करती है, इसलिए मनुष्य मृत्यु से डरता है ।

जिसके दर्शन में प्राणों की अमरता समाई हुई है, जीवन की अनन्त शाश्वतता का मधुरस छलक रहा है—
उसे मृत्यु से क्या डर ! वह तो मृत्यु के त्रासदायी क्षणों में भो आनन्द में भ्रूम कर गाता है—

नत्थि जीवस्स नासु त्ति—^१

शरीर का नाश है, पर जीव का, आत्मा का नाश नहीं,
वह अविनाशी, अक्षर अजर है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नेनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥^२

१ उत्तराध्ययन २।२७

२ गीता २।२३

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि की ज्वालाएँ जला नहीं सकतीं, जल की सहस्र-सहस्र धाराएँ उसे भीगे नहीं सकतीं, तेज हवाएँ उसके रस को सुखा नहीं सकतीं ।

यह आत्मा की अमरता का शाश्वत घोष, जीवन की अनन्त निर्भयता का मूल मंत्र है । अभय और अनासक्ति का राजपथ है ।

एक बार भिक्षु पूर्ण तथागत के पास आकर सूना परांत जनपद (अनार्य प्रदेश) में जाने की अनुमति मांगने लगे ।

तथागत ने पूछा—वहां के लोग तुझे कटुवचनों से त्रस्त करेंगे तो ?

मैं समझूंगा वे भले हैं, क्योंकि मुझे पर हाथ नहीं उठा रहे हैं । थप्पड़-घूँसे तो नहीं मार रहे हैं ।

यदि हाथ उठाकर पीड़ा देंगे तो....?

मैं उन्हें सत्पुरुष समझूंगा, चूंकि वे मुझे डंडों से नहीं पीट रहे हैं ।

यदि ऐसा भी हुआ तो ?

तो मैं मानूंगा वे दयालु हैं, क्योंकि कम से कम शस्त्र-प्रहार तो नहीं करते ।

यदि वे शस्त्र-प्रहार ही करें तो ?

भंते ! वे कम-से-कम मुझे मार तो नहीं रहे हैं ? मैं उनकी कृपा मानूंगा ।

“पूर्ण ! यदि वे तुम्हारा वध कर डालेंगे तो ?”

‘भंते ! बहुत-से लोग जीवन से तंग आकर आत्महत्या करके जीवन का अंत करना चाहते हैं । मुझे अपने धर्म का पालन करते हुए सहज ही यदि जीवन से मुक्ति मिल जायेगी तो मैं उन्हें उपकारी मानूंगा । फिर वे तो सिर्फ इस देह का ही नाश करेंगे, मेरे आत्म-धर्म की तो घात नहीं कर सकते ।

बुद्ध ने कहा—“पूर्ण ! तुम हर स्थिति में अपने को संयत व प्रसन्न रखने वाले पूर्ण साधक हो, तुम कहीं भी जा सकते हो ।” ●

आसक्ति

आसक्ति सब दुःखों का मूल है ।

मनुष्य कामनाओं के वश होकर अनन्त-अनन्त पीड़ाएं,
अगणित यंत्रणाएं भोगता रहता है ।

श्री मद्भागवत का एक वचन है—

“दुःखं काम सुखापेक्षा ।”^१

संसार में दुःख क्या है ?

काम सुखों की कामना ही दुःख है ।

भ० महावीर ने कहा है—

“नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो”^२

कामना—तृष्णा के समान अन्य कोई जाल नहीं, ऐसा कोई अवरोध नहीं, जो प्राणी को दुःखों में फंसाकर रोके रखता है ।

जैसे गुब्बारे में हवा भरी रहती है, वैसे ही कामनाओं के गुब्बारे में क्लेश एवं पीड़ाओं की हवा रहती है, मनुष्य

१. ३१।१६।४१

२. प्रदन व्याकरण १।५

उस गुब्बारे के पीछे बच्चे को तरह दौड़ता है, और उसके फूटते ही पीड़ाओं के वात्याचक्र में फंस जाता है।

बौद्ध जातक में एक कथा है। मिथिलापति निमि एक बार गवाक्ष में खड़े नगर शोभा देख रहे थे। सहसा एक विचित्र दृश्य उनकी सुकुमार भावनाओं को झकझोर गया। एक चील मांसपिंड मुंह में दबाये आकाश में मंडरा रही थी, और बीसियों पक्षी उस पर झपट-झपट कर चौचें मार रहे थे। मांसपिंड छीनने के लिए आकाश में भयंकर संघर्ष मच रहा था।

सहसा घायल चील के मुंह से मांसपिंड छूटा, एक दूसरे पक्षी ने अपनी चौंच में दबाया और अब सब पक्षी उस पर पूरे वेग के साथ झपटने लगे। दूसरा पक्षी घायल हुआ, और तीसरा उसे ले भागा। किंतु उसकी भी वही दुर्गति हुई।

यह दृश्य देखकर निमिराज की अन्तश्चेतना स्फुरित हो उठी—“संसारी काम भोगों की भी यही स्थिति है। जो उसे लेने को आतुर होता है, वहा पीड़ा एवं यंत्रणा से संत्रस्त होकर क्षत-विक्षत, दीन हीन हो जाता है। जिसने भोगों को पकड़े रखा, उसने दुःख एवं पीड़ा पाई, जिसने त्याग किया वही सुख का अनुभव कर सका।” ●

अमृत की लड़ी

अथर्ववेद में एक सूक्त है—

“आरभस्वेमामृतस्य श्नुष्टिम्”^१

यह समय अमृत की लड़ी है, इसे अच्छी तरह दृढ़ता के साथ पकड़ के रखो ।

मनुष्य समय का इंतजार करता है, पर समय कभी भी मनुष्य का इंतजार नहीं करता । वह तूफान की तरह आता है, बिल्कुल अचानक, और आंधी की तरह चला जाता है, जीर्ण-शीर्ण अवशेष छोड़ कर ।

समय को पहचान पाना एक कला है, भगवान महावीर ने कहा है—खणं जाणाहि पंडिए^२—विद्वान समय का मूल्य समझे, समय का उपयोग करे । समय के पर होते हैं, वह उड़ता है, बीत जाने के बाद कभी

१ अथर्व० ८।२।१

२ आचारांग

लौटकर नहीं आता—“णो हूवणमंति राइओ”^१—बीती हुई रात्रियां कभी लौट कर नहीं आतीं ।

एक चित्र प्रदर्शनी में विभिन्न शैलियों के सुन्दर-सुन्दर चित्र टंगे थे । उनमें एक विचित्र चित्र था जो दर्शकों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींच रहा था । उस चित्र में एक मनुष्य के चेहरे को बालों से ढका हुआ और पैरों में पर लगे हुए बताया गया था । एक प्रबुद्ध दर्शक ने प्रदर्शनी के चित्र आयोजक से पूछा—“यह किसका चित्र है ?”

आयोजक—‘समय का ।’

“इसका मुँह क्यों छिपाकर रखा गया है ?”

आयोजक ने उत्तर दिया—“इसलिए कि जब अवसर हमारे सामने आता है तो हम उसे पहचान नहीं पाते ।”

“और इसके पैरों में पंख क्यों लगे हैं ?”

मधुर मुस्कान के साथ आयोजक ने बताया—
“इसलिए कि अवसर हमेशा उड़ता रहता है, आर कभी लौटकर वापस नहीं आता ।” ●

अमरता की खोज

मनुष्य ! तू अक्षय अनन्त है, अमृतपुत्र है, ज्योति-स्वरूप विराट चैतन्य है। फिर दीन-हीन क्यों ? अमर्त्य होकर अमरता के लिए मारा-मारा क्यों भटक रहा है ? तू तेजस्वी है, दीप्तिपुंज है, अविनाशी और अमृत है—

“तेजोऽसि, शुक्रमसि, अमृतमसि !”^१

तेरे अन्तर अन्तराल में प्रतिपल आनन्दवर्षी, नन्दन कानन-सी शीतल-सुगंधित पवन बह रही है। तेरे अन्तःकरण मे ही मनोवांछित फल प्रदायिनी कामधेनु बंधी है—

“अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं ।”

तेरी आत्मा ही कामधेनु है, तेरा आत्मा ही नन्दन वन है। तेरे अन्तरंग में भांक कर देख, ज्ञान-दर्शन-की पवित्र निर्मल ज्योति जगमगा रही है।

तू अपने को विसरा कर भटक रहा है—कबीरदास जी ने तुझे पुकारा है—कस्तूरी तेरे अन्तःकरण में छिपी

है और तू उसकी गंध में पागल बना वन-वन भटक रहा है ?—

कस्तूरी मृग नाभि बसत है
वन-वन फिरत उदासी !

सचमुच अमरत्व का अमृत फल तेरे हा अन्तःकरण में छिपा है और तू उसे खोजने दमतोड़ दौड़ लगा रहा है ?

एक बार देवताओं की सभा में मनुष्य के अपराजित पुरुषार्थ की चर्चा चली। भयत्रस्त वाणी में सब ने आशंका व्यक्त की—“जिस गति से मनुष्य प्रगति के अजित दिगन्तों पर विजय ध्वज फहरा रहा है, उसे देखते लगता है एक दिन स्वर्ग की भूमि पर भी वह अपने विजयी चरण रख देगा।”

देवताओं की भय विचलित मनोदशा देखकर देवर्षि ने सुभाव दिया—“उसका अमरत्व छीन लेना चाहिए।”

“पर उसे छिपाएँ कहाँ ?”—आशंका भरी वाणी में देवताओं ने पूछा—पर्वत शिखरों की ऊँचाई को उसने छू लिया है, समुद्रों की गहराई भा नापने का सामर्थ्य उसमें हैं ! पृथ्वी के अतल गर्भ में भी वह पहुँच सकता है—आखिर ऐसा कौन सा स्थान है, जहाँ उसका अमरत्व उससे छुपकर रह सकता है ?”

देवताओं की शंका का निराकरण करते हुए प्रजापति ने कहा—“एक ऐसा स्थान भी है ?”

देवगण आशा भरी नजर से प्रजापति की समयमान मुख मुद्रा को निहारने लगे। प्रजापति ने कहा—“वह गुप्ततम स्थान है मनुष्य का ही अन्तःकरण।”

अमरता की खोज में मनुष्य आकाश-पाताल का कण-कण खोजकर हार चुका है, और फिर भी खोजे जा रहा है—पर आज तक उसने अपना अन्तःकरण नहीं टटोला—जहां अमरता का अमृत घट छिपाया गया है। ●

ऊपर देख

जीवन, समुद्र की यात्रा है। समुद्रयात्री अपनी नाव के नीचे सागर की छाती पर होते लहरों के गर्जन-तर्जन मय उत्थान पतन की ओर नहीं देखता, उसकी दृष्टि सदा आकाश की अनन्त ऊंचाई को छूती रहती है।

जीवन यात्रा में भय और संकट की गहराई में मत झांको, इससे हीनभावना जगती है, आत्म-विश्वास टूटता है, व्यक्ति अपनी स्थिति को असहाय-सा अनुभव कर भुंभला उठता है, भय-प्रताड़ित हो जाता है। संकटों के जिस गह्वर से निकलकर ऊपर आ चुके हो, पुनः उनकी ओर देखना बुद्धिमानी नहीं है। शास्त्र में कहा है—

“नो उच्चावयं मणं नियच्छिज्जा ।”^१

संकट के समय मन को डांवाडोल मत होने दो, किंतु अपने लक्ष्य की अनन्त ऊंचाई की ओर दृष्टि फैलाओ, अपने आदर्शों की रमणीय कल्पनाओं से मन

की आह्लादित करो ! तुम्हारा साहस दुगुना हो जायेगा और भय एवं संकट छिन्न-भिन्न !

समुद्र यात्रा में एक नाव तूफान के थपेड़े खाकर डगमगाने लग गई। तत्काल ही मांभी युवक रस्सी पकड़कर ऊपर चढ़ा और पाल को मजबूती से बाँधा। जैसे ही वह रस्सी के सहारे नीचे उतरने लगा तो— लहरों के आवर्तन से उथल-पुथल होते समुद्र पर उसकी नजर पड़ी, समुद्र का भयंकर गर्जन सुनकर युवक कांप उठा, उसके मुँह से चीत्कार फूट पड़ी—“बचाओ ! मैं गिर रहा हूँ।”

वृद्ध मांभी ने नीचे खड़े युवक की भयाक्रांत दशा देखी, वह वहीं से पुकार उठा—“युवक नीचे मत देख, सामने नीले आकाश में उड़ते पक्षियों को देख ! आँखें ऊपर रख।”

युवक मांभी ने आँखें आकाश में गड़ा दी, धीरे-धीरे वह सकुशल नीचे उतर आया। ●

भूठी बड़ाई

परनिंदा महादोष है ! संत कवि तुलसीदास जी की वाणी ने उसे संसार के निकृष्टतम पापों में गिना है—

“पर-निंदा सम अघ न गरीसा” !

किंतु उससे भी बड़ा दोष है—आत्म प्रशंसा ! और वह भी मिथ्या आत्म-स्तुति !

कहते हैं जब गुणहीन व्यक्ति अपने को गुण श्रेष्ठ ख्यापित करने की दुश्चेष्टा करता है, तो पृथ्वी हिलने लग जाती है, आकाश में छिद्र हो जाते हैं और सुन्दर सृष्टि दूषित गंध से घुटने लग जाती है ।

जैन सूत्रों में कहा है—

जो व्यक्ति अपने किए हुए दोषों को छिपाकर सभा में अपने को गुणी और चरित्रसंपन्न दिखाने की चेष्टा करता है, वह संसार का सबसे बड़ा पाप कर्म ‘महामोह’ का भागी होता है ।^१

भूठी आत्म-स्तुति से परलोक तो नष्ट होता ही है, किन्तु यह जीवन भी किस प्रकार उद्वेगमय एवं जुगुप्सित हो जाता है, इसका निदर्शन एक जातक कथा में मिलता है।

एक दिन वाराणसी में महोत्सव मनाया जा रहा था। नगर में चारों ओर स्वच्छता, सुन्दरता और अद्भुत साज-सज्जा की गई। महोत्सव की रमणीयता से आकृष्ट होकर चार देवपुत्र कक्कारु नामक दिव्यपुष्पों की माला पहन कर आकाश में स्थित हो महोत्सव देखने आये। बारह योजन का विराट् नगर उनके दिव्य पुष्पहारों की मधुर गंध से महक उठा। राजा ब्रह्मदत्त अपने अमात्यों व समस्त राजपरिवार तथा नगर-सेठिठों के साथ उनके दर्शन करने आया।

लोगों ने देवपुत्रों से प्रार्थना की—“आप तो पुनः दिव्यलोक में लौट जायेंगे और वहां ऐसी अगणित दिव्य-मालाएं प्राप्त हैं, हम मनुष्यों को ऐसी दिव्य माला दुर्लभ हैं, अतः कृपाकर ये मालाएं हमें दें।”

देव पुत्रों ने कहा—“मनुष्य लोक में रहने वाले दुष्ट, मूर्ख एवं तुच्छ मनुष्य इन्हें धारण नहीं कर सकते, कोई सत्पुरुष ही इन्हें ग्रहण कर सकता है।”

ज्येष्ठ देव पुत्र ने कहा —

कायेन यो नावहरे, वाचाय न मुसाभणे ।

यसो लद्धा न मज्जेय्य स वे कक्कारुमरहति ॥

—जो काया से किसी की कोई वस्तु नहीं चुराता, ।

वाणी से मिथ्या नहीं बोलता, ऐश्वर्य लाभ कर अहंकार नहीं करता, वह इस कक्कारु के योग्य है ।”

राज पुरोहित ने सोचा, यद्यपि ये गुण मुझ में नहीं हैं, किंतु मैं झूठ बोलकर ये मालाएं ले लूँ तो किसे पता चलेगा, और फिर सर्वत्र मेरी ख्याति भी हो जायेगी ।” पुरोहित ने अपने का योग्य बताकर वह माला लेली ।

दूसरे देव पुत्र ने कहा—

यस्स चित्तं अहालिद्दं सद्धा च अविरागिनी ।

एको सादुं न भुंजेय्य स वे कक्कारु मरहति ॥

—जिसका चित्त हल्दी की तरह कच्चा न हो अर्थात् स्थिर हो और जिसकी श्रद्धा दृढ हो, किसी स्वादिष्ट वस्तु को अकेला नहीं खाये वही कक्कारु के योग्य है ।

पुरोहित ने इन गुणों को भी अपने में बताकर दूसरी माला भा लेली । तीसरे देव पुत्र ने कहा—

धम्ममेन वित्तमेसेय्य न निकत्या धनं हरे ।

भोगे लद्धा न मज्जेय्य सवे कक्कारु मरहति ॥

—जो धर्म से धन प्राप्त करे, किसी को ठगे नहीं और भोग सामग्रियों को प्राप्त कर प्रमादी न बने, वही कक्कारु के योग्य है ।

पुरोहित ने अपने को इन गुणों से भी युक्त बताया और माला प्राप्त करली । चौथे देव पुत्र ने कहा—

सम्मुखा वा तिरोक्खा वा यो सन्ते न परिभासति ।

यथावादी तथाकारी स वे कक्कारु मरहति ॥

— जो सामने या पीठ पीछे कभी किसी सत्पुरुष को

निंदा नहीं करता जैसा कहता, है वैसा ही करता है, वह इस दिव्य माला के योग्य है।

पुरोहित ने अपने को इन गुणों से युक्त बताया और वह माला भी प्राप्त करली।

देवपुत्र माला देकर दिव्य-लोक में चले गये। पीछे से पुरोहित के सिर में भयानक दर्द हुआ, उसका सिर फटने लगा, वह व्याकुल हो भूमि पर लोट-पोट होता हुआ चिल्लाने लगा—“मैंने भूठ बोलकर ये पुष्प हार लिए हैं, मैं इनके योग्य नहीं हूँ, मेरे सिर पर से उठालो।” पर हार मानो लोहे के पट्टे से जकड़ दिए गये हों, किसी भी उपाय से सिर पर से नहीं हटे। पुरोहित की वेदना से राजा भी चिंतित हो गये। सभी नागरिकों के चेहरे पर उदासी छा गई। अमात्यों की सलाह से पुनः उत्सव का आयोजन किया गया। देवपुत्र भी पधारें, उनके दिव्य हारों से पुनः नगर के गली कूचे महक उठे।

पाखंडी पुरोहित का देव पुत्रों के समक्ष पीठ के बल लिटाया गया। पुरोहित ने क्षमायाचना कर जीवन-दान देने की प्रार्थना की। देव पुत्रों ने पाखंडी पुरोहित की भूठी आत्म-स्तुति की भर्त्सना के साथ चारों दिव्यहार उस पर से उठा लिए।

— कक्कारु जातक ●

आज की समीक्षा

कांच के टुकड़े का मूल्य किसके लिए है ?

जिसे रत्न और काँच की परीक्षा नहीं है। जो दोनों का भेद समझता है, उसके समक्ष काँच, काँच है, और रत्न, रत्न। उत्तराध्ययन में एक सूक्त है—

राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।^१

वैडूर्यरत्न के समान चमकने वाले कांच के टुकड़े जौहरी के समक्ष मूल्यहीन हो जाते हैं।

किंतु आज ऐसे जौहरी हैं कितने ? और उनकी कहां चलती है ? आज ज्ञानवान, व धर्मवान का मूल्य कहाँ है ? वह तो सदा शांत आर गंभीर रहता है ? आज तो लोग उसे ही विद्वान व, प्रतिभासम्पन्न मानते हैं जो अधिक बोलता है “पंडित सोइ जो गाल बजावा” कविवर तुलसी के शब्दों में जो गाल बजाना जानता है,

१. उत्त० २०।४२

वही पंडित है। तथागत ने कहा—“सणंता यांति कुसोब्भा”—क्षुद्र नदियां शोर करती हुई बहती हैं तो लोग उन्हें ही महानदियाँ समझकर पूजने लगते हैं।

रूसी विद्वान तुर्गनेव ने वर्तमान के इस जीवन मूल्य पर एक करारा व्यंग्य लिखा है—

एक व्यक्ति बहुत ही शांत और भद्र था, किंतु लोग उसका मजाक करते—“मूर्ख ! गंवार कहीं का !”

लोगों की बात से उसे चोट पहुंचती। एक दिन वह अपनी शांति और भद्रता पर झुंझला उठा। उसने लोगों की धारणा बदलने की सोची।

एकदिन कुछ व्यक्ति किसी विख्यात चित्रकार की प्रशंसा कर रहे थे। वह मूर्ख जोर से चीख पड़ा—‘अरे तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि, उसकी कला-कृतियों का जमाना कब का गुजर गया, अब तो नई शैलियाँ, नये कलाकार चमक रहे हैं। सभा में उपस्थित लोग सहम कर रह गये शायद ऐसा ही हो।’

एक दिन किसी वाचनालय में कुछ व्यक्ति एक लेखक की पुस्तक पर चर्चा कर रहे थे। सभी लोग पुस्तक की प्रशंसा करने लगे। तभी वह मूर्ख जोर से बोल पड़ा—“छिः छिः तुम समय से कितने पीछे हो। वह पुस्तक तो आज रद्दी के भाव भी नहीं बिक सकती, उसका जमाना लद गया।”

सभी श्रोताओं ने डरकर उसकी बात का समर्थन किया—शायद इसकी बात ही ठीक हो ।

और कुछ दिन बाद लोगों की धारणा बन गई—“कैसी तीव्र बुद्धि है उसकी ? कितना अध्ययन और कितनी सचोट समीक्षा करता है, सचमुच वह एक प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति है ।”

यह है आज के पाठकों और समालोचकों की मनोदशा ! यह है आज की समीक्षा ! ●

कर्मण्येवाधिकारस्ते

कर्म की 'धुरा' पर अविचल-अप्रतिहत गति से घूमते रहना—यही जीवन का नियम है, सृष्टि का सिद्धान्त है। कर्म में गति है। कर्म फल की आशा में स्थिरता आ जाती है, गति कुंठित हो जाती है। गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन को उद्बोधन दिया है—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन !” तू अपना कर्म करता रह, फल के विषय में चिंता मत कर। कर्म करने वाला एक दिन सिद्धि के द्वार तक पहुँच जाता है। फल का विचार करने वाला उसी में उलझा रहता है। वह एक दिन कुण्ठा एवं जड़ता-ग्रस्त होकर समाप्त हो जाता है।

किनारों तक स्वच्छ जल से भरे हुए सरोवर ने पतला धाराओं में बहती हुई नदी से कहा—“तुम बड़ी मूर्ख हो, जा रात दिन निरंतर बहती हुई अपना मधुर जल खारे समुद्र में उँडेलती हो ? क्या मिलता है इसके बदले में तुम्हें ? समुद्र तो फिर भी खारा ही है, तुम्हारी शक्ति का क्या लाभ मिला उसे, और तुम्हें !”

नदी ने अपना प्रवाह तेज करते हुए उत्तर दिया—
 “बहना मेरा काम है, मुझे उसी में आनंद मिलता है,
 मैं अपने आनन्द के लिए बहती हूँ, प्रतिदान या प्रतिफल
 की मुझे कोई चिंता नहीं।”

नदी बहतो रही, युग-युग से उसके प्रवाह में वही
 निर्मलता, वही स्फूर्ति और वही पवित्रता बनी रही।
 सरोवर का जल पड़ा-पड़ा प्रतिफल की चिंता में मलिन
 हो गया और एक दिन सरोवर सूख चला। ●

समय

सुख-दुःख मन की स्थिति है, अन्तर की अनुभूति है। उसका उद्गम मनुष्य के अन्तःकरण में होता है, और विलय भी वहीं होता है।

बहुत बार देखा जाता है—दुःख की अनुभूतियां जब तीव्र होती हैं तो हृदय अग्निकुण्ड की तरह संतप्त एवं प्रज्वलित हो उठता है। उस स्थिति में न तत्त्वज्ञान से शांति मिलती है, न उपदेश से ! ऐसी स्थिति में 'समय'—कालक्षेप ही मनुष्य को शांति प्रदान कर सकता है। अतः कहा जाता है—दुःख की सबसे बड़ी औषधि है—समय।

समय पाकर जब दुःख की स्मृतियां मन से निःशेष हो जाती हैं तो स्वतः ही मन शांत-प्रफुल्ल हो उठता है।

सरवाल्टेयर ने एक कहानी लिखी है—एक महान् दार्शनिक ने एक पति शोक में संतप्त महिला को शांति का उपदेश देते हुए कहा—“श्रीमतीजी, इंग्लैंड की रानी और हेनरी अष्टम की पुत्री पर भी कभी ऐसा ही

दुःख आ पड़ा था। उसे अपने ही साम्राज्य से निर्वासित कर दिया गया था, और पति को अपनी आँखों के सामने शूली पर चढ़ते देखना पड़ा।.....आप कुछ धीरज से काम लीजिए।”.....और दार्शनिक शोक मग्ना महिला को अनेक प्रख्यात स्त्रियों के दुःख पूर्ण वृत्तान्त सुनाने लगा। सात्वना की लम्बी चौड़ी बातें सुनकर भी महिला के आँसू नहीं थमे।

दूसरे ही दिन महिला ने सुना—उस दार्शनिक के पुत्र का स्वर्गवास हो गया, और वह उसके शोक में विलख-विलख कर रो रहा है। महिला ने संसार के उन सम्राटों की सूची तैयार की, जिन्हें पुत्र-शोक देखना पड़ा। और वह दार्शनिक के पास ले गई। पर सब कुछ पढ़ कर भी दार्शनिक का दुःख कम नहीं हुआ।

तान मास बाद दोनों आनंदित मुद्रा में एक दूसरे से मिले। एक दूसरे ने दुःख दूर होने का उपाय पूछा तो दोनों के मुख से एक ही शब्द निकला—“समय।” समय ही मनुष्य को शोक वहन करने की सामर्थ्य देता है।”



शैतान का वास

क्रोध—शैतान है। जैन आगमों में इसे चंडाल—दुष्ट कहा है।^१ मनुष्य के सत्कर्मों को क्रोध उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि घास-फूस को। इसलिए कहा है—

कुद्धो...सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज ।^२

क्रोधी व्यक्ति अपने सत्य, शील, विनय, विवेक आदि सत्कर्मों को भस्म कर डालता है।

जैन नीतिशास्त्र के महान् मनीषि आचार्य सोमदेव ने कहा है—“अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ।”^३ क्षण-क्षण में क्रोध करने वाले की मानसिक शक्तियां, जीवन सृष्टि वैसे ही चूर-चूर होकर नष्ट होती जाती है, जैसे अग्नि पर पड़ा हुआ नमक !

१. उक्त० १।११,

२. प्रश्न० २।२,

३. नीतिवाक्यामृत १३७,

अथर्ववेद के एक सूक्त में क्रोध को साक्षाद् अग्नि कहा है—“यदग्निरापो अदहत्”^१—क्रोध रूप अग्नि जीवन की सुख शांति रूप रस को जला डालती है ।

मिश्र की एक प्राचीन लोक कथा है—“भगवान जब सृष्टि सृजन का कार्य पूरा कर चुके तो शांति के साथ कुछ सोच रहे थे । तभी शैतान ने घुटने टेक कर प्रार्थना की—‘प्रभो ! आपने मुझे भी अपने उन्हीं हाथों से बनाया है, जिनसे देवताओं और मनुष्यों को बनाया है । फिर उनके आनन्द और सुख भोग का प्रबन्ध आपने किया है तो मेरे भी भरण पोषण का कुछ प्रबन्ध कीजिए ।’”

क्षणभर तक भगवान सोचते रहे । कुछ क्षण बाद बोले—“मैं तुम्हें शरीर तो नहीं दे सकता, क्योंकि मुझे भय है कि कहीं तुम अपनी सृष्टि बढ़ाकर एक दिन मेरी सृष्टि को ही नष्ट न कर डालो । अतः मैं तुम्हें क्रोध के रूप में मर्त्य लोक में भेजता हूँ । जो मेरी सुन्दर सृष्टि का अपमान करे तुम उसके भीतर प्रवेश कर सकते हो ।”

तब से शैतान क्रोध के रूप में मर्त्य लोक में आया, मनुष्य जब-जब भगवान की सत्य, शील, सेवा रूप सुन्दर सृष्टि का अपमान कर क्रुद्ध होता है, शैतान उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाता है । ●

पारसमणि

भारतीय संस्कृति के महान् स्वर गायक महर्षि व्यास ने कहा है—“नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्”^१—मनुष्य जीवन से बढ़कर इस संसार में और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है।

उपनिषद् की भाषा—मनुष्य को प्रजापति की प्रतिमा के रूप में प्रातिष्ठा दे रही है—“पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा”^२ पुरुष भगवान का रूप है।

संत कवि तुलसी की वाणी उसी मनुष्यत्व में ईश्वर का अविनाशी रूप दर्शन कर हुलसित हो उठी है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी,
चेतन अमल सहज सुखराशी।

आश्चर्य है इस श्रेष्ठ वस्तु को मनुष्य निकृष्टतम विषय वासना की पूर्ति का साधन बना रहा है। इस प्रजापति की प्रतिमा पर वह वासनाओं के मलिन दुर्गन्ध-युक्त फूल चढ़ा रहा है, अतः इस पवित्र ईश्वरीय अंश को

१ म० भा० शांतिपर्व २९६।२०

२ शतपथ ब्रा० ७।५।२।१७

वह दुष्ट दुर्विचार दैत्य की छाया में छिपा रहा है। कैसी मूर्खता है मनुष्य की ! जिस परम रत्न से अपना ही नहीं, विश्व के लाखों करोड़ों प्राणियों का दुःख दारिद्र्य और पीड़ा दूर कर सकता है, उसे केवल अपने क्षणिक भोग का साधन बना रहा है।

एक सेठ ने अंतिम प्रयाण के समय अपने पुत्रों को एक महामणि देते हुए कहा—“वत्स ! यह अमूल्य चन्द्रकांत मणि है, इस कामधेनु रूप महामणि से तुम जीवन के अनन्त श्री सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकते हो।”

ज्येष्ठपुत्र ने मणि का उपयोग किया—रात्रि के गहन अंधकार में प्रकाश करने के लिए एक दीपक की भांति।

कनिष्ठ पुत्र ने मणि को अर्पित कर दिया नगर-वधू के चरणों में, प्रणय-प्रार्थना के साथ।

धन की भूखी गणिका ने मणि को किसी जौहरी के हाथ बेच डाला।

जौहरी ठहरा मणि का पारखी ! शारदीय पूर्णिमा की अमृत वर्षिणी ज्योत्स्ना में मणि से रासायनिक प्रयोग किये उसने। प्रयोग सिद्ध हुआ, अक्षय स्वर्ण राशि उसके चरणों में लोटने लगी। रासायनिक सिद्धियों से उसने दीन-दुखियों व रोग-संतप्तजनों की सेवा की, परोपकार का पुण्य अर्जन किया।

एक ने मणि को लुटाया—केवल शारीरिक वासना के दो टुकड़ों के लिए । और एक ने मणि के रस सिद्ध प्रयोग करके स्वयं जीवन का आनन्द प्राप्त किया और लाखों करोड़ों प्राणियों का भला कर अपार पुण्य की प्राप्ति भी !



गुण-दृष्टि

जीवन में दो दृष्टियाँ हैं—
 एक 'मधु मक्षिका' की दृष्टि ।
 और दूसरी 'मक्षिका' की ।

मधु मक्षिका फूलों का रस ग्रहण करती है, पर उनके तीखे कांटों से स्वयं को बचाकर । कांटों को छोड़कर रस ग्रहण करना यह मधु मक्षिका की दृष्टि है ।

दूसरी दृष्टि है--'मक्षिका' की, सुगंधित पदार्थों के संसर्ग को त्याग कर वह गंदगी के ढेर पर जाकर बैठती है ।

जीवन में जिसे श्रेय की कामना है, कल्याण और आनन्द की अभिलाषा है वह दृष्टि को सदा अच्छाइयों पर टिकाता है, दुर्गुणों के कांटों को छोड़कर सद्गुणों का रस ग्रहण करता है । इसीलिए उदात्त जीवन का आदर्श बताते हुए कहा है—“महुकार समाबुद्धा”^१—बुद्धिमान, उदात्त जीवन दृष्टि संपन्न साधक मधुकर-मधु मक्षिका के समान रसग्राही होता है ।

गुणानुरागी दृष्टि मिथ्यात्व के घने अंधकार में से भी सम्यक्त्व की ज्योति प्राप्त कर लेता है। आचार्य जिनभद्र के शब्दों में—

“मिच्छत्तमय समूहं सम्मत्तं ।”^१

निर्मल सम्यक् दृष्टि संपन्न साधक के लिए मिथ्यात्व का समूह भी सम्यक्त्व में परिणत हो जाता है।

भारतीय संस्कृति के महान् चिन्तक मनु के शब्द हैं—

“विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्”^२

विष में से भी अमृत ग्रहण कर लेना चाहिए, बच्चे से भी सुभाषित सीख लेना चाहिए।

जैन कथा साहित्य में वासुदेव श्री कृष्ण के जीवन का एक मधुर प्रसंग है। एक बार वासुदेव श्री कृष्ण राज्य के प्रमुख अधिकारियों के साथ तीर्थङ्कर नैमिनाथ के दर्शन करने रैवताचल पर स्थित सहस्राम्रवन की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक संकरी गली से गुजर रहे थे कि एक मरे हुए एक कुत्ते की भंयकर दुर्गन्ध से सब का जी घबराने लग गया। छिः छिः करते हुए सभी ने नाक-मुंह पर कपड़े बांधे और घबराए हुए से घोड़ों पर ऐड़ लगाकर जल्दा जल्दी गली को पार करने लगे।”

वासुदेव श्री कृष्ण भी कुत्ते की सड़ी गंध से परेशान थे। पर, फिर भी वे शांत गति से बढ़ रहे थे। सामंतों को

छिः छिः करते देखकर वासुदेव ने गंभीरता के साथ कहा—
 “आप लोग केवल कुत्ते की दुर्गन्ध देखकर उस पर थूक
 रहे हैं, किंतु जरा गौर से देखिए इस निकृष्ट प्राणी की दंत-
 पंक्ति भी ! कितनी उजली चांदी-सी और कितनी सुन्दर !
 हम मनुष्यों के दांत भी शायद इतने सुन्दर नहीं मिलते ।”

वासुदेव की दिव्य दृष्टि में दुर्गन्ध की घृणा के स्थान
 पर श्वेत दंत पंक्ति की प्रशंसा देखकर मानव ही नहीं,
 देवता भी उनकी गुण-ग्राहकता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर
 उठे ।



प्रतिछाया

जैन धर्म का मूल सूत्र है—“अप्पा कत्ता वि कत्ता य”^१ मनुष्य अपने सुख दुःख का कर्ता स्वयं ही है। जब तक आत्म ज्ञान का यह रहस्य उसके हाथ नहीं लगता, वह कस्तूरिया मृग की भांति अपने सुख दुःख के निमित्त इधर-उधर खोजता हुआ भटकता रहता है, और आखिर एक दिन अपनी ही प्रतिध्वनि को शत्रु की हुंकार समझ कर भयभीत हो उठता है, अपनी ही प्रतिछाया को दुश्मन की आकृति समझकर उससे युद्ध करने लपक पड़ता है।

राजा अमोघभूति ने एक रात भयंकर दुःस्वप्न देखा। “राज प्रासाद को चारों ओर से शत्रु सेना ने घेर लिया है। हाथ में नंगी तलवार लिए दुश्मन राजा राजप्रासाद के गवाक्ष से ऊपर महलों में प्रवेश कर चुका है और राजा की शय्या की ओर बढ़ा आ रहा है।

१ उत्तराध्ययन सूत्र २०।३७

भय और आवेश में विक्षिप्त हुआ राजा सहसा खड़ा हो गया। सिरहाने रखा कृपाण हाथ में लेकर शत्रु को ललकारने लगा। देखा—शत्रु क्रोधोन्मत्त हुआ हाथ में खड्ग लिए सामने खड़ा है। राजा ने झपट कर एक प्रहार किया तो दीवार का शीशा चूर-चूर होता हुआ जैसे राजा की मूर्खता पर अट्टहास कर उठा।

राजा का स्वप्न भंग हो गया। प्रज्ञा चक्षु खुले—
‘ओह ! मैं तो अपनी ही प्रतिछाया से लड़ने को आतुर हो उठा, मैंने अपनी ही प्रतिकृति पर प्रहार किया.....
राजा चिन्ता की गहराई में उतर गया।

सचमुच मनुष्य अपनी प्रतिछाया से ही प्रताड़ित होकर उद्विग्न, व्यथित और भयत्रस्त हो रहा है। ●

अमरज्योति

भगवान महावीर ने एक बार कहा—

“किमत्थि उवाही पासगस्स ?

न विज्जइ ?”

जिसने सत्य का साक्षात् दर्शन कर लिया है, उस वीतराग द्रष्टा को कोई बंधन, भय व उपाधि है ?

नहीं ! उसके लिए संसार की समस्त उपाधियां, समाधि के साधन बन जाती हैं। उसका मन कमल के समान बन जाता है—“पद्मपत्रइवाम्भसा”^२ कमल पानी से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही सत्य का अनुभव करने वाले साधक का मन विषय विकारों के सघन जल में प्रविष्ट होकर भी निर्लिप्त, निर्विकार निकल आता है।

उस सत्य ज्योति का द्रष्टा साधक स्वयं ही अपने पथ को ज्योतित नहीं करता, किंतु अपने सुदूर परिपाश्वरों

१. आचारांग १।३।४,

२. गीता

को भी आलोकित करता चला जाता है—जैसे घोर तमिस्रा के पश्चात् उदित सहस्रमाली । वह संसार के बुझे दीपकों को अपनी ज्ञान ज्योति से प्रज्वलित करता रहता है । जैसे—

“जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दीप्पए दीवो ।”
जैसे दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श से सैकड़ों अन्य दीपक जला देता है ।

नेपाल की बौद्ध कहानियों में भिक्षु उपगुप्त की एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है । सावन की सघन मेघों भरी अंधियारी रात में भिक्षु उपगुप्त विहार में निद्रालीन थे । रात के दो पहर बीते होंगे । उत्तर का अंचल नूपुरों की रुनभुन से भंकृत हो उठा । भींगुरध्वनि को वेधता हुआ एक मद भरा नाद विहार के निकट आ रहा था । अंधकार में विद्युल्लता-सी दमकती एक देह-यष्टि विहार में प्रविष्ट हुई । भिक्षु उपगुप्त ने चौंक कर देखा—
“सुनील अंचल में घृत दीप संजोये नगर की प्रख्यात नर्तकी सुन्दरी वासवदत्ता सामने खड़ी है ।”

‘कौन ?’—उपगुप्त ने चौंक कर कहा ।

“भिक्षु, मुझे क्षमा करो ! पैरों की आहट से आपका निद्रा भंग हो गया है !”—वासवदत्ता विनत भंगिमा के साथ भिक्षु के अत्यंत समीप आकर खड़ी

हो गई। भिक्षु के गौर-कांति से दीपित चन्द्रमा के समान सुकुमार मुख-मंडल के भीतर से अमित सौन्दर्य प्रतिबिम्बित हो रहा था। वासवदत्ता क्षणभर विमुग्ध भाव से देखती रही, फिर लज्जाविमुक्त हो भिक्षु का हाथ पकड़ते हुए बोली—“रूपकुमार ! राजकुमारों के लिए चिर दुर्लभ मेरे भवन को पवित्र करिए। भगवान ने इस अनिन्द्य सौन्दर्य के लिए यह कठोर पृथ्वी नहीं, सुकुमार पुष्प शैया निर्मित की है।”

भिक्षु ने अपना हाथ खींचते हुए कोमलता से कहा—
“सुमुखि ! अभी तुम लौट जाओ। मेरे आने का उपयुक्त समय अभी नहीं है, समय पर मैं खुद तुम्हारे पास चला आऊँगा।”

×

×

×

ठीक एक वर्ष बाद एक निर्जन पथ पर भिक्षु उपगुप्त के स्थिर चरण तेजी से बढ़े जा रहे थे। आन्धवन पार कर एक पीपल के पेड़ के नीचे चरण ठिठक गये। सामने एक एक प्रौढ़ा रमणी चेचक के फफोलों से लदी बेसुध-सी पड़ी थी, आहत हरिणी-सी। भिक्षु ने उसके मुख पर शीतल जल छिड़का। नारी ने आँखें खोली और कराहती वाणी में बोली—करुणागार ! कौन हैं आप ? नगर वासियों ने छूत के भय से मुझे यहां नगर की सीमा के बाहर फेंक दिया है, आपने इस समय पर इतनी असीम दया की है ?”

भिक्षु के अमृतवर्षी नेत्र सजल हो गए—“वासव दत्ते ! मैं हूँ भिक्षु उपगुप्त ! आज आने का उपयुक्त अवसर मुझे पुकार रहा था, मैं अपने वचनानुसार आ गया हूँ।”

भिक्षु की करुणा में असीम निस्पृहता को मधुर गंध महक रही थी। सेवा का अमृतस्पर्श पाकर वासवदत्ता का मोह मुग्ध जीवन ज्ञान की अमरज्योति से जगमग हो उठा। ●

आत्म-वंचना

प्रकृति, जिसे धर्मशास्त्र नियति या कर्म कहते हैं, सबसे अधिक जागरूक और निष्पक्ष न्याय करती है। मनुष्य का अन्तरंग उसका साक्षी होता है, उसकी बुद्धि और भाग्य उसे अपने आप उसका दंड देते हैं।

मकड़ी जैसे अपने श्लेष्म तंतुओं से जाल बुनती है और स्वयं ही उसमें फंस कर तड़फड़ाने लगती है, कभी-कभी जीवन में यही स्थिति मनुष्य की, स्वयं हमारी भी होती है।

आगम में कहा है— सएण विप्पमाएण,
पुढो वयं पकुव्वह ।

मनुष्य अपनी ही भूलों से, विचित्र स्थितियों में फंस जाता है, अपने ही छल-छद्म से ठगा जाता है। नियति उसे कभी माफ नहीं करती। और जब भाग्य की क्रूर गति उसे उसके ही फैलाए हुए जाल में फंसाकर उस पर

व्यंग्य करती है तो वह भीतर-ही-भीतर आत्मग्लानि से टूटता हुआ अपने पर पश्चात्ताप करता है ।

भारतीय राजनीति एवं धर्म-दर्शन के साहित्य शिल्पी राजगोपालाचारी ने एक प्राचीन कथा उद्धृत करते हुए इसी भाव का स्पष्ट निदर्शन किया है, जो आज की आत्म-वंचक लोक-मनोवृत्ति का यथार्थ दर्शन है--

एक सम्राट ने बूढ़े राजशिल्पी को आदेश दिया—
“नदी के तट पर एक ऐसा भवन बनाओ जो सौन्दर्य एवं सुविधा की दृष्टि से अद्वितीय हो ।”

राजा के आदेश से राज शिल्पी ने भवन निर्माण की योजना बनाई, और राजा ने तत्काल संभावित धनराशि शिल्पी को देने की आज्ञा कर दी !

अपार धन राशि देखकर शिल्पी का मन चंचल हो उठा—“क्यों न, नकली और घटिया सामान लगाकर भवन खड़ा कर दूँ और शेषराशि अपने पास ही बचालूँ ?” शिल्पी की आंखों पर लोभ का आवरण पड़ गया ।

कुछ ही दिनों में सुन्दर भवन बनकर तैयार होगया । एक विशाल समारोह के साथ उसका उद्घाटन हुआ । कृतज्ञता पूर्ण भंगिमा के साथ महाराज ने कहा—“आज के दिन मैं राजशिल्पी की एकनिष्ठ कर्तव्य परायणता और राजभक्ति को पुरस्कृत करना चाहता हूँ । राज्य का यह सबसे सुंदर एवं सुखद भवन मैं राजशिल्पी को

पुरस्कार स्वरूप देता हूँ।” -महाराज ने हर्ष-विभोर होकर महल की चाबियां वृद्ध राजशिल्पी के हाथों में सौंप दी। महाराज की उदारता के जयनाद से सभा मंडप गूँज उठा।

अपने ही छद्म से वंचित वृद्ध शिल्पी के जराजीर्ण चेहरे पर एक फीकी खुशी चमक रही थी, जो अन्तर की पीड़ा पर आवरण डाल कर भी उसे स्पष्ट प्रतिबिम्बित कर रही थी। ●

संकल्प

मनुष्य संकल्पमय है। संकल्पों का जैसा वायुमंडल उठता है, मनुष्य के जीवन की आकृति उसी रूप में ढल जाती है। इसीलिए एक मनीषी आचार्य ने कहा है—

“संकल्पमओ जीओ, सुख-दुःखमयं हवेई संकप्पो।”^१

जीव संकल्पमय है, सुख-दुःख सब संकल्पों से ही पैदा होते हैं।

जब उसके संकल्प विराट् होते हैं तो वह जीवन की परम दिव्यता का वरण करता है, असीम ऊंचाई का स्पर्श करने लगता है। और जब संकल्प निम्न, अशुभ होते हैं, तो हृदय मलिनताओं की अंधतमिस्रा में ठोकरें खाता है। दिव्य संकल्प दिव्यता की ओर ले जाते हैं और पशुता के विचार प्रशुत्व की ओर !

यजुर्वेद का वचन है—

पशुभिः पशूनाप्नोति^२

१ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा १८४

२ यजुर्वेद १६।२०

—मनुष्य पशुता के विचारों से पशुता को प्राप्त होता है।

‘हंस बोध’ नामक नीतिग्रन्थ में एक कहानी है। सुखों की असीम अभिलाषाओं में विभ्रान्त बने मांधाता एक बार स्वर्ग के पारिजात (नंदन) वन में पहुंच गये। वे कल्पवृक्ष की शीतल - सुरभित छाया में बैठे कि कामनाएं चंचल हो उठीं। मन स्वर्गीय-सुखों की कल्पना में खो गया—“यदि यहाँ मेरा एक विलास भवन होता……।”

तत्काल ही वहाँ सर्वसुख सामग्री से परिपूर्ण विलास भवन निर्मित हो गया। फूलों की मधुर गंध से वासित पुष्प तल्प बिछ गया।

“यदि यहां पीने को कादम्ब और विलासिनी अप्सराएं भी होंती।”—मांधाता ने सोचा। निमिष मात्र में सब सामग्री उपलब्ध हो गई। सुखभोग के बाद सहसा एक भय-मिश्रित हिलोर उठी—“कहीं इन्द्र को पता चल गया और मुझे स्वर्ग से निर्वासित कर दिया गया तो……?” दूसरे ही क्षण क्षत-विक्षत मांधाता धरता पर लौटने लग गये। कथा का बोध देते हुए लिखा है—“यह जीव ही मांधाता है, और यह जगत ही कल्प वृक्ष है। जो जैसा संकल्प करता है, वैसी ही सिद्धि पाता है।” ●

आग्रह का खूँटा

शास्त्र-मानव के उदात्त विचार-मन्थन का नवनीत है, उससे जीवन में सत्य-सदाचार आदि सद्गुणों की पुष्टि होनी चाहिए। सेवा-करुणा की दिव्यता चमकनी चाहिए। न कि आग्रह - कदाग्रह - विग्रह की कुटिल भीषणता !

तथागत बुद्ध ने कहा है—

भिव्खवे, कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो,
नित्थरणत्थाय, णो गहणत्थाय ।^१

—भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए धर्म का उपदेश किया है, न कि इसे पकड़ रखने के लिए।

धर्म का अभिनिवेश—उन्माद बन जाता है, शास्त्रों का मोह—आग्रह बन जाता है और विचारों की भूठी पकड़ विचार मूढ़ता में परिणत हो जाती है।

१. मज्झिमनिकाय १।२२।४

बुद्धि का लंगर जब आग्रह के खूँटे से बंधा रहता है, तो विचारों की नौका को चाहे जितनी डांड लगाइये, वह मंजिल की ओर एक चरण भी नहीं बढ़ा सकेगी ।

एक लोक कथा है। कुछ व्यक्ति यात्रा के लिए निकले। मार्ग में नदी पार करके उधर जाना था। वे सायंकाल एक नौका में सवार हुए और बारी-बारी से नाव की डाँड हिलाते हाथ-पैर चलाते रहे। रात भर नाव चलाने के बाद प्रातःकाल की लालिमा जब पूरब में चमकी तो नाव को उसी किनारे पर खड़ी देख सब के सब विस्मय-विमुग्ध हुए देखते रह गए ।

किनारे पर खड़े मांभी को पुकारते हुए एक ने कहा—
“जरा देखो तो, नाव में कुछ खराबी हो गई है, रात भर चलाने के बाद भी अभी उसी किनारे पर खड़ी है ।”

मांभी ने व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ कहा—“महाशय ! नाव तो लंगर से बंधी है, अब तक तो यह खूँटे से खुली ही नहीं, चलेगी क्या खाक ?” ●

आत्म-स्मृति

अद्वैत-ब्रह्म के समुपासक प्रज्ञा-पुरुष शंकराचार्य ने आत्मा के अखंड-अनन्त रूप को उद्बोधित करते हुए कहा है—

देश-काल-विषयातिवर्ति यद्,
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयमात्मनि !^१

“तू देश काल और स्थिति परिस्थिति के विषय व बंधन से अतीत परमब्रह्म स्वरूप है,” अन्तःकरण में इस भावना को जागृत कर ।

आरण्यक में आत्मज्योति का दर्शन कराने वाला एक सूक्त है—

योऽहमस्मि, ब्रह्मास्मि,
अहमेवाहं, मां जुहोमि ।^२

—“जो मैं जीव हूँ, शुद्ध हो जाने पर वही ब्रह्म हो जाता हूँ । इसलिए ‘मैं’ ही ‘मैं’ हूँ । मैं अपनी ही उपासना करता हूँ ।

१. विवेकचूड़ामणि २५५

२. तैत्तिरीय आ० १०।१

स्वरूपतः जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं है, जीव में जिनत्व की विराट् सत्ता समाई हुई है, जैसे बिंदु में सिंधु ! इसीलिए जैन आगम पुनःपुनः पुकारकर कह रहे हैं—

अहं अब्बए वि, अहं अवट्टिए वि ।^१

“मैं अविनाशी हूँ, मैं अवस्थित—सदा एक रस रहने वाला हूँ ।” प्रश्न है फिर आत्मा अपने को क्षुद्र पामर जीव समझ कर दीन क्यों बन रहा है ?

दर्शन का उत्तर है—आत्म-विस्मृति ! वह अपने स्वरूप को विस्मृत किये हुए है, अपनी अनन्त चिद्-शक्तियों का परिज्ञान उसमें स्फुरित नहीं हो पा रहा है ।

स्वरूप की विस्मृति ही माया है, मोह दशा है,
स्वरूप की स्मृति ही मानवता है, जागृत दशा है ।
स्वरूप की अवस्थिति भगवत्ता है, ईश्वर दशा है ।

हमें आज स्वरूप विस्मृति से स्मृति की ओर आना है, और स्वरूप की स्मृति कर स्वरूप में अवस्थिति प्राप्त करना है ।

एक प्राचीन कथा है, जिसका उल्लेख महर्षि रमण ने भी अपने प्रवचन में किया है ।

एक नवजात अनाथ सिंह शावक जंगल में पड़ा था । भेड़ ने उसे देखा तो उसका मातृवात्सल्य उमड़ आया ।

अपने बच्चों के साथ वह उसे भी दूध पिलाने लगी। सिंह-शावक भी उसे अपनी मां समझने लगा और बच्चों के साथ चौकड़ियां भरकर खेलता रहा। धीरे-धीरे सिंह-शावक बड़ा हुआ, भेड़ के संस्कार और भेड़ के व्यक्तित्व के बिम्ब उसमें विकसित होने लगे। भेड़ों की तरह वह भी घास चरता और जंगली जानवरों को देखकर भय से कांपता हुआ मिमिया कर भाग जाता।

एक दिन सिंह ने भेड़ों के झुंड पर आक्रमण किया। भेड़ें मुट्टी में जान लिए भागने लगीं, सिंह शावक ने भी सिंह को देखा और भयभ्रान्त हो, छलांगें मारता हुआ उन्हीं के साथ हो गया।

सिंह शावक हांफता हुआ एक जलाशय के पास पहुँचा। सरोवर के निर्मल जल में उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया—“ऐ ! मैं तो भेड़ नहीं, सिंह हूँ, वैसा हा जैसा हमारे पीछे-पीछे हम पर झपटकर आ रहा था। ठीक वैसा ही, जिसे देखकर सारा जंगल कांप उठा था।” उसका सुप्त-सिंहत्व जग उठा, और एक निर्भय गर्जना उसके कंठों से फूटी तो वन-प्रान्तर काँप उठा।

स्वरूप की स्मृति होने पर व्यक्ति अपनी महत्ता का अनुभव करता है, आत्मा की विराट्ता का दर्शन करता है और जीव से जिनत्व की भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। ●

अन्न की कुशलता

अन्न, जल और पवन—सृष्टि के तीन महान् रत्न है। मनुष्य दिग्भ्रांत होकर पत्थरों के टुकड़ों को रत्न समझने लगता है, किंतु यदि अन्न न मिले तो वे रत्न कहे जाने वाले बहुमूल्य प्रस्तर खण्ड किस काम के ?

प्राचीन आचार्यों की दीर्घदर्शी-मेधा ने अन्न का अपार महत्व समझा, और कहा—जो मनुष्य अन्न का दुरुपयोग करता है, वह अपने प्राणों को क्षीण करता है। इसलिए—

अन्नं न निन्द्यात्^१—अन्न की अवहेलना न करो।

अन्नं बहु कुर्वीत्, तद् व्रतम्^२—अन्न अधिकाधिक उप-जाना मनुष्य का राष्ट्रीय व्रत है।

अन्न की महत्ता प्रदर्शित करने वाली एक प्राचीन लोक कथा जैन साहित्य के पृष्ठों पर अंकित है—

१. २. तैत्तिरीय उपनिषद् ३।७-९

श्रीराम चौदह वर्ष का वनवास पूरा कर अयोध्य में प्रवेश कर रहे थे। राम के स्वागत में विरहिणी अयोध्य। आज कुलवधू की भांति सजकर मुस्करा रही थी। नगर के श्रेष्ठ वर्ग एवं सामान्य जनसमाज ने हर्ष विभोर हो राम का हार्दिक स्वागत किया।

राम ने नगरजनों को स्नेहपूर्वक कुशल क्षेम पूछा—
“आप सब कुशल तो हैं।”

“हाँ प्रभु, आपके दर्शन पाकर हम सब परम प्रसन्न हैं।” “घर में बाल-बच्चे और अन्न धान्य सब कुशल हैं?”—राम ने अपना प्रश्न आगे बढ़ाया।

वाक्य का अंतिम चरण सुना तो नगरजनों के मुख पर हंसी की एक हलकी-सी रेखा उभर आई—“राम वनवास में अवश्य ही भूख से पीड़ित रहे होंगे।”

“हाँ प्रभु, आपकी कृपा से अन्न धान्य के भंडार भरे हैं....” मंद स्मित के साथ महाजन ने उत्तर दिया। व्यंग्य की तीखी पुट राम से छिपी नहीं रही, पर वे चुप थे।

रामराज्य की नव व्यवस्था के प्रारम्भ में महाराज राम की ओर से महाजनों को प्रीतिभोज के लिए आमंत्रित किया गया। भोजन की प्रतीक्षा में दो चार घड़ी बीत गई, पर अन्न की कहीं गंध भी नहीं आ रही थी। महाजनों की क्षुधा व्याकुल दृष्टि इधर-उधर भांकने लगी कि तभी विविध मणि-रत्नों से सजे स्वर्ण थाल महाजनों के सम्मुख रखे गये और स्वयं महाराज राम ने आग्रह पूर्वक कहा—“महाजनो ! भोजन कीजिए।”

महाजन विमूढ थे—राम के विचित्र व्यवहार पर ! क्षुधा की आकुलता के साथ आक्रोश की धुँधली रेखाएँ भी उनके भ्रुवों पर मंडराने लगीं कि पुनः महाराज ने साग्रह कहा—“महाजनो ! आप भोजन कीजिए न, सकुचा क्यों रहे हैं ?”

“महाराज ! आपका यह नवीन और विचित्र भोजन हम कैसे खायें !’ हमें तो भूख लगी है, और वह अन्न से ही मिट सकती है।” नगर के प्रमुख महाजन ने निवेदन किया ।

“क्या रत्नों से भी अन्न अधिक मूल्यवान है ?”—राम ने गम्भीर होकर पूछा ।

“अवश्य, महाराज ! जीवन धारण के लिए तो अन्न ही सबसे महत्वपूर्ण है, यही सबसे बड़ा रत्न है।”

“महाजनो ! फिर धान्य की कुशलता पूछने पर आप लोगों की हँसी का कोई अन्य प्रयोजन था ?”—राम गम्भीर थे, महाजन अपनी भूल पर सकुचाते हुए भीतर ही-भीतर गड़े जा रहे थे ।

राम ने अर्थपूर्ण भाषा में कहा—

उत्पत्तिर्दुर्लभा यस्य, व्ययो यस्य दिने-दिने ।

सर्वरत्नप्रधानस्य धान्यस्य कुशलं गृहे ॥

—जिसका व्यय तो प्रतिदिन होता ही रहता है, किन्तु उत्पन्न करना कठिन है, वह धान्य सब रत्नों में प्रमुख है, उसकी कुशलता घर में सबसे पहली चीज है।”



तीन देवियां

जीवन में तीन महान गुण हैं—

बुद्धि,

लज्जा,

साहस,

इन तीनों गुणों की उपासना करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ जीवन जी सकता है। किन्तु जब तीन दुर्गुण रूप भेड़िये उसके इन तीन गुणों पर झपट पड़ते हैं तो वे न केवल उन्हें नष्ट ही करते हैं, किन्तु उसके जीवन की दिव्यता ही समाप्त कर डालते हैं।

बुद्धि को भ्रष्ट करता है—क्रोध।

लज्जा को दूर भगाता है—लोभ।

साहस को समाप्त करता है—भय।

गीता की भाषा में—क्रोधाद् भवति सम्मोहः^१—

क्रोध से मूढ़ता का जन्म होता है, मूढ़ता से स्मृति विभ्रम और फिर बुद्धि नाश !

लोभ से निर्लज्जता आती है, निर्लज्जता व्यक्ति को चोरी, दुराचार और क्रूरता की ओर बढ़ाती है। “लोभा-विले आयइ अदत्त”^२—लोभी चोर होता है, चोर को लज्जा कैसी ?

भय के समान शक्ति और साहस का अन्य दुश्मन कौन है ? उपमा, अर्थगौरव और शब्द-चातुरी के धनी महाकवि माघ के शब्दों में—

किमिव हि शक्तिहरं स साध्वसानाम् ।^३

भय के समान और क्या है शक्ति नाशक ?

तीनों के समन्वित परिणाम की भांकी दिखाने वाली एक प्राचीन लोक कथा है ।

एक युवक मार्ग में अकेला जा रहा था । उसे तीन दिव्य देवियाँ मिलीं । युवक ने उनसे पूछा—“तुम कौन हो ?”

पहली ने कहा—“मेरा नाम बुद्धि है ।”

“कहाँ रहती हो तुम ?”

‘मस्तिष्क-लोक में’—बुद्धि ने उत्तर दिया ।

“तुम कौन हो, सुन्दरी !”—युवक ने दूसरी देवी को ओर मुड़कर पूछा ।

“मेरा नाम है लज्जा ! मैं दृष्टि लोक में रहती हूँ ।”

“और यह तेजोदीप्त आंखों वाली कौन है ?”

“मेरा नाम है—हिम्मत ! मैं हृदय लोक में निवास करती हूँ ।”

युवक ने तीनों देवियों को नमस्कार कर कदम आगे बढ़ाए ही थे कि तीन भयानक आकृतिधारी दैत्य उसके सामने आ धमके ।

साहस भरे स्वर में युवक ने पूछा—“कौन हो तुम ! कहां रहते हो ?”

“मैं हूँ क्रोध ! मस्तिष्क में मेरा घर है ।”

“भूँठ !” युवक ने घृणा के साथ कहा । “वहां तो बुद्धि देवी रहती हैं ।”

“ठीक कहते हो तुम ! लेकिन जब मैं आता हूँ तो बुद्धि वहां से कूच कर जाती है ।”

और तुम कौन हो ?”

“मैं हूँ लोभ ! आंखों में रहता हूँ ।”

“हैं ! आंखों में तो लज्जा रहती है ?” युवक ने कहा ।

“लेकिन तुम्हें नहीं मालूम, जब मैं आता हूँ तो उसका कहीं अता-पता भी नहीं चलता ।”

“और महाशय, आप कौन हैं ?”—युवक ने तीसरी दुबकी हुई आकृति की ओर देखा ।

“मुझे कहते हैं भय ! हृदय मेरा निवास स्थान है । ”

“वहाँ तो हिम्मत जो रहती है ? तुम्हें कैसे वहाँ स्थान मिलेगा ?”

“जनाब ! पता है आपको ? जब मैं आता हूँ तो हिम्मत का डेरा उठ जाता है ।”

और तीनों आकृतियों के अट्टहास के बाच युवक चिन्तन-लीन खड़ा रहा । ●

सच्चा पाठ

दूसरों के बगीचे की रखवाली करने वाला—माली हो सकता है, बगीचे का मालिक नहीं। दूसरों की गायों की देखभाल करने वाला ग्वाला हो सकता है, गायों का स्वामी नहीं, वैसे ही केवल धर्म ग्रन्थों की बातें करने वाला, संहिताओं को रटकर शोर करने वाला शास्त्रपाठी हो सकता है, शास्त्र का अनुयायी नहीं।^१

शास्त्र की चर्चा करने वाला शास्त्री होता है, उनका आचरण करने वाला साधु।

महापुरुष शास्त्रों की दुहाई शब्दों से नहीं, जीवन से देते हैं। वे मुख से नहीं, मन से शास्त्र का अध्ययन करते हैं।

महाभारत का एक प्रसंग है। द्रोणाचार्य की सन्निधि में राजकुमारों का अध्ययन चल रहा था। एक दिन

१. बहुं पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो ।

गोपो व गावं गणयं परेसं, न भागवा सामञ्जस्स होंति ।

--धम्म पद १।१६

आचार्य ने पाठ दिया, 'सत्यं वद क्रोधं मा कुरु' — "सच बोलो, क्षमा करो।"

दूसरे दिन विद्यार्थियों से पाठ पूछा गया तो पहला नम्बर था युधिष्ठिर का।— "गुरुजी, मुझे पाठ याद नहीं हुआ..." युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर आचार्य को क्षोभ हुआ और साथी विद्यार्थी उसकी बुद्धि पर हंस पड़े।

कुछ समय बाद गुरुजी ने डांट लगाई— "युधिष्ठिर ! क्या बात है ? भीम, अर्जुन, सुयोधन आदि सबने पाठ याद कर लिया और तुम सब में ज्येष्ठ होकर भी पीछे पड़े हो ! शीघ्र ही पाठ याद करो।"

युधिष्ठिर दिन भर पाठ रटते रहे, पर संध्या होते-होते जबकि अन्य विद्यार्थी अगला पाठ भी सुना चुके थे युधिष्ठिर पहले पाठ पर ही अटके थे। भुंभला कर गुरुजी ने युधिष्ठिर की पीठ पर एक बेंत-प्रहार किया। युधिष्ठिर उछल पड़े— "गुरुजी, पाठ याद हो गया।"

सभी साथी हंस रहे थे— 'डंडे ने पाठ याद करा दिया।' गुरुजी ने पूछा— "इतनी देर याद नहीं हुआ, और एक बेंत लगते ही कैसे याद हो गया?"

युधिष्ठिर ने मंदहास्य के साथ कहा— 'गुरुजी, आप शब्दों को ही पूछना चाहते हैं, वे तो, कल ही मुझे याद हो चुके थे, किन्तु मैं इन्हें केवल वचन से नहीं, मन से पढ़ना चाहता था, और इसकी परीक्षा तभी होती जब

कोई भूठ बोलने का प्रसंग मेरे सामने आए । क्रोध करने का कारण उपस्थित हो । अब मैं कह सकता हूँ, कि 'सत्यं वद् क्रोधं मा कुरु' मुझे मन से याद हो गए हैं ।”

युधिष्ठिर के ज्ञान-गम्भीर वचन सुनकर स्वयं गुरुजी भी उसकी सत्यनिष्ठ प्रज्ञा के समक्ष विनत हो गए । 'धर्मपुत्र ! सचमुच सच्चा पाठ तो तुमने ही पढ़ा है ।” ●

उदार दृष्टि

जिनके मन का दायरा छोटा होता है. उनमें तेरे-मेरे के संकल्प होते हैं, ममकार के कठघरे बने रहते हैं।

जिनके मन में विश्वचेतना का अखण्ड प्रतिबिम्ब झलकता है, वहां समूची मानव जाति एक परिवार के रूप में दिखाई देती है। सूक्ति है—

“अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

यह मेरा, यह पराया, यह गणित तो छोटे मन की झलक है। जिनका मन सागर-सा विशाल व उदार है, उनके लिए संपूर्ण पृथ्वी ही अपना परिवार है।

और जहां पर समूची मानव जाति एक बिरादरी के रूप में देखी जाती है—एक्का माणुस्स जाति—जहां समस्त संसार एक घोंसले की तरह ‘एक घर’ बन जाता है—

१. आचाराग च्चाण २

“यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्^२ — वहां पर मानवता का दिव्य रूप व्यक्त हो जाता है। फिर न कोई दुश्मन रहता है न कोई चोर। कोई पराया है ही नहीं, तो कुछ खोने का गम भी नहीं, किसी से कुछ भय भी नहीं।

एक चीनी काव्य में एक राजकुमार की कहानी है। चू प्रदेश का राजकुमार एक बार किसी जंगल में शिकार खेलने गया। राजकुमार का धनुष शिकार खेलते कहीं खोगया। सैनिकों ने कहा—“हज़ूर ! आज्ञा दीजिए, हम धरती का चप्पा-चप्पा खोज डालेंगे, उस धनुष को कहीं न कहीं से ढूँढ़ कर ही लायेंगे।”

उदार राजकुमार ने कहा—“नहीं भाई, क्या जरूरत है ! धनुष इसी चू प्रदेश के ही किसी मनुष्य के पास होगा। चलो, देश की वस्तु देश के ही किसी व्यक्ति के पास होगी न आखिर।”

महात्मा कन्फ्यूशस् ने जब इस घटना को सुना और राजकुमार की उदारता की बात चली तो कहा—“राजकुमार की दृष्टि संकीर्ण है, उनका दिल छोटा है, नहीं तो वह कहते, चलो, क्या हुआ, एक मनुष्य की वस्तु किसी मनुष्य के ही पास है न ?” ●

२. ऋगवेद

दृष्टि जैसी सृष्टि

मन, मानव सृष्टि का मूल है ।

मनुष्य का मन जब राग युक्त होता है तो सर्वत्र राग और प्रेम का बन्धन फैलता चला जाता है, वही जब विरक्ति की ओर मुड़ता है तो, बन्धनों की ग्रन्थियां स्वतः खुल पड़ती हैं आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

रत्तो बंदधि कम्मं,

मुच्चदि जीवो विराग संजुत्तो ।^१

रागासक्त मन कर्म के बंधन गढ़ लेता है, और विरक्त मन उन बन्धनों से मुक्त हो जाता है !

इसीलिए भाष्यकार उव्वट ने मन को महासागर कहा है—जिसमें अच्छाइयों की मणि-मुक्ताएँ भरी हैं तो बुराइयों के मच्छ-कच्छ भी । 'मनो वै सरस्वान्'^२—मन ही महासागर है ।

१ समयसार

२. यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य १३।३५

जैसा मन होता है, वैसा ही बाह्य जगत् बन जाता है—“मनएव जगत्सर्वम्”^१—मन ही जगत् का निर्माण करता है।

इसी को व्यवहार में ‘यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः’ कहा है। दृष्टि हमारा चिन्तन है, वस्तु को देखने की वृत्ति है। यदि दृष्टि राग पूर्ण है, तो सृष्टि भी राग पूर्ण हो जाती है, दृष्टि में द्वेष है तो सृष्टि में भी सर्वत्र द्वेष ही द्वेष बरसता है।

महाराष्ट्र में एक कथा प्रसिद्ध है। समर्थ रामदास रामायण लिख रहे थे, साथ ही साथ शिष्यों को सुनाते भी जाते थे। हनुमान भी गुप्त रूप से उसे सुनने के लिए आते।

एक प्रसंग वर्णन में रामदास ने कहा—“हनुमान अशोक वन में गये और वहां सफेद फूल देखे।”

—“मैंने सफेद फूल नहीं, लाल फूल देखे, तुम गलत लिख रहे हो—” हनुमान ने प्रगट होकर कहा।

समर्थ ने कहा—“फूल सफेद ही थे। मैंने ठीक लिखा है।”

हनुमान जरा तेजी से बोले—“वहां मैं गया था, या

तुम ? फूल मैंने देखे और मुझे ही तुम झुठला रहे हो !”

भगड़ा आखिर राम दरबार में पहुंचा । राम ने कहा —“फूल तो सफेद ही थे, किन्तु रावण के वैभव पर क्रुद्ध हो जाने से हनुमान की आंखें लाल हो रही थीं, इसी कारण अशोक वन के शुभ्र-पुष्प भी हनुमान को लाल दिखाई दिए ।” ●

साथी की करतूत

संसार में कुछ ऐसे घड़े होते हैं, जिनके मुख पर मधु का ढक्कन रखा होता है, पर भीतर में हलाहल जहर भरा रहता है। “मधु कुंभेणाममेगे विषपिहाणे।”^१

संस्कृत सूक्ति है—अधरेषु अमृतं केवलं,
हृदि हालाहलमेव तेषाम् ।

उनके अधरों पर अमृत लगा रहता है, किंतु हृदय में घोर हलाहल। महाभारत के शब्दों में—

“वाङ्मनवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम्।”^२

वाणी मक्खन के समान और हृदय पैनी धार वाले तीक्ष्ण छुरे के समान है।

जीवन की यह विडम्बना है, बहुरूपियापन है। और है अपने एवं संसार के साथ धोखा।

१. स्थानांग ४।४

२. महाभारत ३।१२३

बाहर में पवित्रता, सदाचार का दिखावा तब तक आडंबर बनाए रखता है, जब तक कोई उसके अन्तर में झाँककर नहीं देख ले। और यह अन्तर-दर्शन तभी हो पाता है जब निकटता हो, सहवास हो।

कुछ व्यक्ति इसीलिए आपात—अर्थात् देखने में बड़े भद्र एवं सुशील प्रतीत होते हैं, किंतु निकट रहने पर उनकी असलियत कुछ और ही निकलती है।

आवायभद्दे णामेगे णो संवासभद्दे ।^१

वे मिलनभद्र होते हैं, संवासभद्र नहीं।

तथागत ने यही भाव मगध सम्राट् प्रसेनजित को संबोधित करके कहे थे—

संवासेन खो, महाराज, सीलं वेदितव्वं ।^२

“महाराज, किसी के साथ रहने से ही उसके शील-स्वभाव का पता चलता है।”

शील स्वभाव के परिचय की एक घटना रत्नमंजरी में उल्लिखित है—श्रीराम वनवास के समय एक बार पंपा नदी के तट पर पहुँच गये। नदी में जलप्रवाह के बीच एक बगुला धीरे-धीरे पांव उठाए चल रहा था। राम ने बगुले से पूछा—“बकराज ! नदी में इतने धीरे-धीरे पांव रख रहे हो, क्या कुछ कष्ट तो नहीं है ?”

बक ने हँस कर कहा—“नहीं ! महाराज, आपको क्या पता इस जल प्रवाह में कितने क्षुद्र दीन जीव तैरते चले जा रहे हैं, किसी को कोई कष्ट न हो जाय, इसी-लिए धीरे-धीरे चल रहा हूँ।”

राम बगुले के उत्तर से आश्चर्य मुग्ध हो उठे, तभी लक्ष्मण उनके निकट आ पहुँचे और पूछा—“महाराज ! आप भाव विभोर से हुए जल प्रवाह में क्या देख रहे हैं ?”

राम ने कहा—

“पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परमधार्मिकः ।

शनैः शनैः पदं धत्ते जीवानां वधशंकया ॥

लक्ष्मण ! देख इस पंपा नदी के प्रवाह में, यह बगुला कितना धार्मिक और करुणावतार है । कहीं किसी जीव को कुछ कष्ट न हो जाय, इसलिए वह धीरे-धीरे पांव रख रहा है !”

लक्ष्मण कुछ बोलने ही वाले थे, तभी तट पर एक गड्ढे में पड़े मेंढक ने गर्दन बाहर निकाली, और राम की सरलता पर जैसे व्यंग्यपूर्ण ध्वनि में बोला—

“सहवासी विजानाति सहवासि-विचेष्टितम् ।

बकं किं वर्ण्यते राम ! येनाहं निष्कलीकृतः ।”

—“राम ! किसी के असली स्वभाव और उसकी कर्तव्यों को तो उसका संगी-साथी ही जान पाता है । आप इस बगुले की व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहे हैं, इस दुष्ट ने तो मेरा समूचा कुल ही खा डाला !”

आत्महत्या

संत कनफ्यूशियस ने कहा है—“बड़े से बड़ा ज्ञानी भी तब मूर्ख प्रतीत होता है, जब वह अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करता है।”

जब मनुष्य अपने को जितना है उससे अधिक समझने लगता है तो उसमें आत्म-ख्याति की भावना जगती है। आत्म-ख्याति, आत्म-प्रशंसा-वास्तव में एक धोखा है, जो मनुष्य को वास्तविकता से गुमराह कर देता है।

महाभारत में गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष इस बात की उद्घोषणा करते हैं—“अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना आत्म-हत्या है।”

प्रसंग है कि, महाभारत के युद्ध में एक दिन युधिष्ठिर कर्ण के हाथों बुरी तरह पराजित हुए। गाण्डीवधारी अर्जुन उनके समक्ष आए तो पराजय से झुंझलाए युधिष्ठिर का सब आक्रोश धनुर्धर अर्जुन पर बरस पड़ा—“धिक्कार है तुम्हारे इस गाण्डीव को,

जिसके होते हुए भी कर्ण ने मेरा ऐसा कठोर अपमान कर डाला ?”

भाई के अपमान से अर्जुन खिन्न था, पर गाण्डीव का अपमान सुनकर तो वह स्वयं बड़े भाई पर ही आग बबूला हो उठा। “मेरे गाण्डीव का अपमान मेरी मृत्यु से भी बढ़कर है, मैं पहले इस अपमान का बदला लूंगा।” क्रोधोन्मत्त अर्जुन ने प्रत्यंचा पर बाण चढ़ा लिया।

युधिष्ठिर पर अर्जुन को गाण्डीव उठाया देख, सर्वत्र सन्नाटा छा गया। तभी श्री कृष्ण ने अर्जुन को ललकारा—“धनुर्धर! अपने अपमान का बदला लो, भाई का वध करो! पर मालूम है, बड़ों का वध कैसे किया जाता है ?”

अर्जुन के हाथ रुक गए और जिज्ञासा भरी नजर से श्री कृष्ण की ओर देखने लगा।

“अपने से बड़ों का वध शस्त्र से नहीं, अपशब्द से किया जाता है।”—श्री कृष्ण का बोध सूत्र पाकर अर्जुन ने अभद्र शब्दों से युधिष्ठिर की भर्त्सना की, जी भर कर।

‘पर यह क्या ? अर्जुन का क्रोध उतरते ही वह बड़े भाई के अपमान की आत्मग्लानि से तिलमिला उठा। गुरुजनों के अपमान का प्रायश्चित्त ‘आत्मदाह’ है, अर्जुन अब आत्मदाह करके स्वयं को समाप्त करने पर तुल गया।

फिर चारों ओर एक सनसनी फैल गई । तभी नीति-द्रष्टा श्री कृष्ण ने अर्जुन को सावधान किया—“शस्त्र से शरीर के टुकड़े कर डालना, या अग्नि में जल मरना ही आत्महत्या नहीं है ।”

“तो फिर आत्महत्या का क्या तरीका है ?”—अर्जुन की जिज्ञासा उमड़ पड़ी ।

“अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना—यही सबसे बड़ी आत्महत्या है”—वासुदेव की उक्ति पर अर्जुन ने जी भरकर आत्म प्रशंसा कर आत्मदाह का अनुभव किया । ●

तीन गुण

भगवान महावीर ने अपने धर्म संदेश में एक जगह कहा है—

अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा माया मोसं विवज्जे ।^१

“बिना पूछे बोलना नहीं चाहिए, दो आदमियों के वार्तालाप के बीच में नहीं बोलना चाहिए, किसी की चुगली नहीं खानी चाहिए, और मन को झूठ-कपट से दूर, सरल रखना चाहिए ।”

उपर्युक्त संदेश समाज में प्रतिष्ठा और लोक प्रियता प्राप्त करने का जीवन मंत्र है ।

बिना पूछे नहीं बोलने वाला, मधुर बोलने वाला, और हृदय को सरल रखने वाला किस प्रकार प्रीतिपात्र बनता है, इस पर एक रूपक प्राचीन लोकसाहित्य में उपलब्ध होता है ।

एक बार यमुना तट पर शीतल मंद समीर का आनन्द लेते हुए श्रीकृष्ण कदम्ब की छाया में बैठे बांसुरी बजा रहे थे ।

रीती गगरिया सिर पर ली हुई ब्रज बालाएं यमुना की ओर आ रही थीं । श्री कृष्ण की बंशरी की मीठी टेर सुनी तो एक बार सबके पांव थिरक उठे, और दौड़ पड़ी बंशरी की मधुर ध्वनि के पीछे । हवा में आंचल लहराती बालाएं नट नागर को घेर कर खड़ी होगईं और आक्रोश भरे स्वर में बोल उठीं—“जब देखो, तब यह बंशरी ही मुंह से लगी है, इसे ही प्यार करते हो, दुलारते हो, साथ-साथ लिए घूमते हो, जैसे यही बस प्राण-प्रिया है ।”

श्रीकृष्ण ने मधुरहास्य के साथ ब्रज गोपियों की ओर देखा और पुनः बांसुरी की मीठी टेर छोड़ने लगे ।

नारी का सहज ईर्ष्या भाव जग उठा । “श्याम ! यह काली कलौठी नंगी बांसुरी तुम्हें प्यारी लगती है और हम गौरी-गौरी निर्मलवसना बालाएं तुम्हें सचमुच बुरी लगती हैं, तभी तो तुम हम से दूर भाग कर इससे प्यार करते हो, छुप-छुप कर…… ।” स्नेहिल कटाक्षों से निहारती हुई गोप बालाएं श्री कृष्ण के चारों ओर घुमर डालती हुई कृत्रिम रोष के साथ घूरने लगीं ।

“नारी सहज ईर्ष्यालु होती है”—एक मीठे व्यंग्य के साथ श्रीकृष्ण बोले—“मुझे तो गुण प्रिय है, जहाँ मकरंद

होगा, वहीं मिलिन्द जायेगा, जिसमें गुण होंगे, मैं उससे अवश्य प्यार करूंगा—चाहे गोरी हो या काली !”

“ओह ! बड़े गुण रसिक हैं आप, बताइये तो इस नंगी बाँसुरी में कौन-सा ऐसा गुण है जिसने आपके मन को मोह लिया है ?”

“अच्छा, तुम्हें पता भी नहीं ! यही तो तुम्हारा ईर्ष्यालु स्वभाव है । न स्वयं में गुण, न दूसरे के गुणों का आदर । सुनो ! मेरी प्यारी बंसरी में तीन गुण हैं……।” श्रीकृष्ण ने मधुर हास्य के साथ कहा—“बंसरी में पहला गुण है—यह बिना बुलाए कभी नहीं बोलती, चाहे रात-दिन मेरे साथ रहती है, पर जब तक मैं बुलाता नहीं, एक शब्द इसके मुँह से नहीं निकलता ! क्यों है न कुछ विशेषता ?”

“और दूसरी क्या बात है इसमें ?”

दूसरा गुण बंसरी में है - “जब भी बोलेंगी, माठी बोलेंगी !” गोपियों ने सिर धुना—“अहा आज तो बंसरी पर मुग्ध हो उठे हैं आप ! गुण-ही-गुण नजर पड़ते हैं, बताइए और क्या-क्या विशेषताएं हैं इस प्राणप्यारी में…… ।”

“मेरा प्यार है, इसलिए यह गुणी नहीं, किंतु इसमें गुण है इसलिए मैं प्यार करता हूँ”—श्रीकृष्ण ने कहा—सुनो इसका तीसरा गुण तो सचमुच ही बड़ा महान् है—

देखो, यह ऊपर से नीचे तक बिल्कुल सीधी सरल है, कहीं गांठ नहीं है। जिसका हृदय सरल हो, जिसके मन में गांठ न हो, क्या वह भगवान का प्यारा नहीं होगा?— गोपी वल्लभ श्रीकृष्ण ने बांसुरी को हवा में घुमाते हुए गोपियों की ओर एक तीखी चितवन से देखा। गोपबालाओं की दृष्टि नीची झुक गई वे इन तीनों गुणों की प्रतिच्छाया में अपने अन्तर को टटोलने लग गईं। ●

गुरुमंत्र

आत्म-लोक के उन्मुक्त विहग संतजनों ने सांसारिक भोग वैभव, सुख-दुःख को —“विज्जुसंपायचंचल”^१ बिजली की चमक की भांति चंचल कहा है, और मानस-लोक के मुक्तविहारी कविजनों ने उसे—“चक्रारपंक्ति रिव गच्छति भाग्यपंक्तिः”^२ रथ के पहिए की तरह भाग्य का चक्र घूमता रहता है, कहकर इसी शाश्वत सत्य को परिपुष्ट किया है।

यह ‘क्षणिकवाद’ जीवन को निराशा के अंधकार से गहराने के लिए नहीं, किंतु सुख-दुःख के आघातों को धैर्य पूर्वक सहने के लिए है।

सुख भी क्षणिक है, अतः उसका अहंकार मत करो। आर दुःख भी क्षणिक है, अतः मन को दीनता से कंपित मत करो—दोनों ही मेहमान हैं, आये हैं, और चले जायेंगे

१. उत्तराध्ययन १८।३

२. महाकवि भास—स्वप्नवासवदत्ता नाटकम् १।४

न सुख स्थायी है, और न दुःख बस यही विचार जीवन में सफलता, साहस और धैर्य का द्वार खोलता है।

एक प्राचीन कथा है। एक राजा ने आदमकद शीशे के समक्ष अपना भुर्रियों से विवर्ण चेहरा और पांडुर केश देखे तो उसका मन विरक्त हो गया। अपने पुत्र को राज्य भार सौंपकर स्वयं आत्म-साधना की पगडंडियों पर चल पड़ा।

राजकुमार अभी अपरिपक्व था, उसने राज्य का गुरुतर भार कंधों पर ले तो लिया, पर उसे सफलता-पूर्वक कैसे निभाये, इसकी शिक्षा लेने वह अपने विद्या-गुरु के चरणों में गया।

गुरु ने आशीर्वाद देते हुए कहा—“युवराज ! तुमने जो अध्ययन, अनुशीलन करके ज्ञान प्राप्त किया है, अब उसकी परीक्षा है। धैर्य एवं विवेक के साथ इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना है।”

राजकुमार—“गुरुदेव ! कोई विशिष्ट गुरु-मंत्र दीजिए ताकि इस महान् उत्तरदायित्वको ठीक ढंगसे निभासकूं।”

गुरु—“राजकुमार ! एक मंत्र है—‘इदमपिगमिष्यति’—यह भी चला जायेगा, इस मंत्र को अपनी मुद्रिका में उद्दंकित करवा लीजिए, और जब भी बल, ऐश्वर्य एवं शोभिता का नशा मन पर छाये तब इस मंत्र को सार्थ चिंतन करते जाइए—यह क्षणिक है, यह भी चला जायेगा। और जब कभी निराशा एवं दीनता से मन व्याकुल हो

उठे, तब भी इस मंत्र को जपते रहिए—‘यह भी चला जायेगा’ इससे तुम्हारी बुद्धि सदा निर्मल रहेगी, तुम्हारा धैर्य कभी टूट नहीं सकेगा और मानसिक संतुलन बराबर बना रहेगा बस यही गुरु मंत्र है—जो जीवन की बड़ी से बड़ी अग्नि परीक्षा में सफलता का वरदान देता है।

राजकुमार ने गुरु मंत्र प्राप्त किया, और उस पर आचरण कर अपने दायित्वों को सफलता पूर्वक निभाया।



जीवन
स्फुटियां

जीवन एक खिला हुआ पुष्प है। उससे प्रतिक्षण सद्गुणों की मधुर-मनभावनी परिमल प्रस्फुटित होती रहती है। जिसकी गुण-दृष्टि खुली है, वह इन पुष्पों के सुकुमार सान्दर्य से मन को परितृप्त करता रहता है, जिसके कृतज्ञता रूप नासिकारंध्र उन्मुक्त है, वह मधुर सुवास के उच्छ्वास से अपूर्व पुलक के साथ-दिव्य स्फूर्ति पा लेता है।

इतिहास के पृष्ठों पर ज्ञात-अज्ञात कुछ सत्पुरुषों के दिव्य गुणों की मधुर परिमल शब्दों की देह में बंधकर यहाँ रेखांकित हुई है, अपनी उद्बोधक पावन स्फूर्तियाँ लिये। ●

आचार का चमत्कार

शास्त्रों के हजार उपदेश से आचार का एक चरण अधिक श्रेष्ठ होता है। उपदेश और चर्चा से धर्म का वास्तविक सौन्दर्य ढक जाता है, किंतु चरित्र में वह सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ प्रकट हो जाता है। इसीलिए यूरोप के प्रसिद्ध तत्व चिन्तक रोमोरोलॉ ने एक बार कहा था—एक्शन इज दि एण्ड आफ थॉट—समस्त ज्ञान चरित्र में समाहित हो जाते हैं।

तथागत बुद्ध ने कहा है—

जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह जीवन भर धर्म चर्चा करके भी उसके रस को नहीं जान पाता, जैसे चम्मच दाल का स्वाद नहीं जान पाती। किंतु जो धर्म का आचरण करता है, वह धर्म का स्वाद क्षण भर में ही पहचान लेता है, जैसे जीभ दाल का स्वाद पहचान लेती हैं।^१

१. धम्मपद ५।५-६

कोरे विचार प्रभावशून्य होते हैं, किंतु आचार अत्यंत शीघ्र अपना जादुई प्रभाव सब पर डाल देता है।

गांधीजी के जीवन की एक घटना है। वे विलायत में थे। एक पादरी महाशय ने सोचा यदि गांधी को मैं ईशु का भक्त बना दूँ तो हिन्दुस्तान में करोड़ों आदमी अपने-आप ईसाई बन जायेंगे। पादरी ने गांधीजी से संपर्क बढ़ाया; और रविवार को धर्म चर्चा के लिए अपने घर पर निमंत्रित किया। मंत्री का हाथ और आगे बढ़ा, पादरी ने प्रस्ताव किया—“आप प्रति रविवार को मेरे घर पर भोजन के लिए आया करें, ताकि कुछ समय बैठ कर हम धर्म चर्चा कर सकें।”

गांधीजी ने प्रसन्नतापूर्वक उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। रविवार को पादरी ने गांधीजी के लिए निरामिष भोजन की व्यवस्था कर दी।

पादरी के लड़कों ने पूछा—“पिताजी ! यह सब क्या हो रहा है ?”

“मेरा मित्र गांधी हिन्दुस्तानी है, वह मांस नहीं खाता इसलिए शाकाहारी भोजन की व्यवस्था की है”—पादरी ने बताया।

“गांधी मांस क्यों नहीं खाता……?” बच्चों ने सरलता से पूछा।

पादरो ने कुछ व्यंग्य मिश्रित स्वर में कहा—“वह कहता है, जैसे हम सब के प्राण हैं, वैसे ही पशु पक्षियों

के भी प्राण हैं, हमें कोई मारकर खाये तो जैसे हमें कष्ट होता है, वैसा ही कष्ट उन्हें भी होता है। आखिर हिन्दुस्तानी जो है.....।”

बच्चों पर पादरी के कथन की प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। वे बोले—“पिताजी ! यह तो अच्छी बात है, हमें भी मांस नहीं खाना चाहिए।”

“बेटे यह तो उसके धर्म की बात है, हमारे धर्म की नहीं”। पादरी ने उपेक्षा पूर्वक कहा। बच्चे उसके मुंह की ओर देखते ही रह गये। “अच्छी बात किसी भी धर्म की हो, वह क्यों नहीं माननी चाहिए—?” लड़कों के मन में कुतूहल उठा।

गांधीजी बराबर हर रविवार को आते, धार्मिक चर्चाएं चलतीं। कभी-कभी बच्चे भी उन्हें सुन लेते। गांधीजी का मधुर व शांत स्वभाव, दयालु हृदय और सभ्य व्यवहार उन्हें बहुत पसंद आया। धीरे-धीरे उनका हृदय गांधी की ओर खिचने लगा। एक दिन बच्चों ने पादरी से कहा—“पिताजी ! कल से हम भी मांस नहीं खाएँगे। गांधी के धर्म की बातें हमें अच्छी लगी है।”

बच्चों की बात सुनकर पादरी के पैरों की जमीन खिसकने लगी। वह विचारों में डूब गया—“मैं गांधी को ईसाई बनाना चाहता था, पर मेरे ही लड़के हिन्दु बनने जा रहे हैं।”

दूसरे रविवार को जब गांधीजी आये तो पादरी महाशय ने भोजन के पश्चात् बड़ी विनम्रता से कहा—

“मैं आज से अपना निमंत्रण वापस लेता हूँ ।”

गांधीजी मधुर मुस्कान के साथ पादरी की आँखों में भाँकने लगे । पादरी भुंभला कर बोला—“मिस्टर गांधी ! मैं हिन्दुस्तान के कल्याण के लिए तुम्हें ईसाई बनाना चाहता था, पर तुम तो मेरे बच्चों पर ही हमला बोल रहे हो, यह मुझ से बर्दाश्त नहीं हो सकता ।”

गांधी जी पादरी की मूर्खता पर मन-ही-मन हंस पड़े, वह वाणा से अपना धर्म फैलाना चाहता था, मगर गांधी अपने जीवन से धर्म का पाठ सिखा रहा था । ●

गाली क्यों दूँ ?

वाणी सरस्वती का रूप है, मुख सरस्वती का मंदिर है। जो मनुष्य वाणी से असभ्य और दुर्वचन बोलता है, वह वाग् देवता का अपमान करता है। उसकी वाणी अपवित्र हो जाती है।

यजुर्वेद में एक प्रार्थना की गई है—

“जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो ?”

—मेरी जिह्वा कल्याणकारी हो, मेरी वाणी महिमा-मयी हो। वाणी से अमृत बरसाने वाला, स्वयं भी अमृत पान करता है। वाणी से जहर बरसाने वाला स्वयं भी उस जहर से संतप्त हो उठता है। यदि कोई दूसरा अभद्र शब्दों का विष वमन करता है, तो क्या उसके समान उसके उत्तर में अभद्र शब्द बोलना बुद्धिमाना है ?

१. यजुर्वेद २०।६

उर्दू के प्रसिद्ध शायर अकबर से किसी ने पूछा—
“उसने आपको गाला दी, बदले में आपने गाली क्यों नहीं दी, चुप क्यों रहे ?”

अकबर ने उत्तर दिया—“जनाब ! क्या कोई गधा हमें दुलत्ती मारे तो आप पूछेंगे कि आपने भी बदले में दुलत्ती क्यों नहीं चलाई ?”

गाली का उत्तर गाली से देना मूर्खता है । महामना मदनमोहन मालवीय जी के समक्ष किसी विद्वान ने अपनी क्षमाशीलता की शेखी बघारते हुए कहा—“मैंने क्षमा का गहरा अभ्यास किया है, चाहे कोई सौ गालियां दे तो भी मुझे क्रोध नहीं आयेगा ।”

सहज उपेक्षा के साथ मालवीय जी बोले—“अच्छी बात है !”

विद्वान् ने जिद्द करते हुए अभ्यर्थना के स्वर में कहा—
“नहीं ! आप गाली देकर देखिए न ?”

मुस्कराकर मालवीय जी ने कहा—“भाई ! आपकी शांति-परीक्षा के लिए मैं अपनी जीभ को गाली से गंदी करूँ, क्या यह मेरी समझदारी होगा ?” ●

भद्रता की कसौटी

भद्रता, सज्जनता, साधुता—मनुष्य की वेशभूषा से नहीं, उसके चरित्र से व्यक्त होती है। भगवान महावीर ने कहा—सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता और 'ओम्' का उच्चारण कर देने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, किंतु समता के आचरण से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है।^१

ढाई हजार वर्ष के बाद भी जीवन के 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की यह ध्वनि मंद नहीं पड़ी है। आज भी सज्जनता और साधुता का अंकन जीवन के बाह्यदर्शन से नहीं, किंतु अन्तरंग दर्शन से किया जाता है। भारतीय संस्कृति के इस अमर संगीत की ध्वनि स्वामी विवेकानन्द के उत्तर में प्रतिध्वनित हुई थी, जब वे शरीर पर काषाय वस्त्र धारण किए, सिर पर पगड़ी, हाथों में डंडा और कंधों पर चादर डाले शिकागो (अमेरिका) की सड़कों पर घूम रहे थे।

१. उत्तराध्ययन २५।३१-३२

एक भद्र महिला ने कुतूहल वश अपने साथ के पुरुष से कहा—“जरा इन महाशय की वेश भूषा तो देखो ! क्या अनोखी है ।”

स्वामीजी ने पीछे मुड़कर देखा, अपने को भद्र सज्जन और सभ्य समझने वालों की नजरें दूसरों के लिए कितनी असभ्य बन रही है । स्वामीजी गंभीर हास्य के साथ बोले—“बहन ! तुम्हारे इस देश में मनुष्य के कपड़े ही सज्जनता एवं सभ्यता की कसौटी है, किन्तु मैं जिस देश से आया हूँ, उस देश में मनुष्य की सज्जनता, भद्रता और सभ्यता कपड़ों से नहीं, उसके चरित्र से पहचानी जाती है ।” ●

विनम्रता

तथागत बुद्ध ने कहा है-अज्ञानी की दो निशानी हैं—
अहंकार और परंकार !^१

जो अपने ज्ञान का, धर्माचरण का, धन का, रूप का अहंकार करता है, वह कितना ही पढ़ा लिखा हो, अज्ञानी है ।

जो परंकार-(यह तेरा-यह मेरा) के चक्कर में पड़कर आसक्ति के जाल में फंसे रहते हैं वे भी मूर्ख हैं ।

अहंकार-वही करता है, जिसमें ज्ञान की कमी होती है । -अर्धो घटो घोषमुपैति नूनं-आधा घड़ा छलकता है, पूरा घड़ा निःशब्द रहता है । फूलों का रस प्राप्त कर मधुमक्खी मौन हो जाती है, फलों से युक्त हो वृक्ष नम जाते हैं, जल से भरी बदरियां धरती पर झुक जाती हैं, ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य विनम्र हो जाते हैं—“नच्चा नमइ मेहावी”^२ - जैसे पक जाने पर फल मधुर हो जाता

१. उदान ६।६

२. उत्तराध्ययन १।४५

है, सिक जाने पर आलू मुलायम हो जाता है ।

गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का आविष्कर्ता न्यूटन एक महान् प्रतिभाशाली वैज्ञानिक था । उसके चिन्तन एवं पांडित्य पर यूरोप को आज भी गर्व है । बाईस वर्ष की अवस्था में उसने बीज गणित के द्विपद सिद्धान्त का आविष्कार किया था । सूर्य की किरणों में सात रंग क्यों हैं ? समुद्र में ज्वार-भाटा क्यों आता है ? सूर्य चन्द्र की क्षीणता और पूर्णता का क्या रहस्य है ? इन प्रश्नों की गहराई में उतरकर उसने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का विश्लेषण किया था ।

एक बार न्यूटन के पास एक महिला आई, और मुक्त कंठ से उसकी प्रतिभा एवं ज्ञान की प्रशंसा करने लगी ।

न्यूटन ने चौंक कर कहा—“अरे ! तुम क्या बातें कर रही हो ? मैं तो उस बच्चे के समान हूँ जो सत्य के विशाल समुद्र के किनारे बैठा हुआ केवल कंकड़ ही बीनता रहता है । विद्या के अथाह वारिधि में तो मैंने अभी तक प्रवेश ही नहीं किया ।” महिला न्यूटन की विनम्रता के समक्ष विनत हो गई । ●

राष्ट्रपिता का आदर्श

पुराणों में ब्रह्मा को 'प्रजापति' कहा है—चूँकि उसने प्रजा का निर्माण किया ।

प्राचीन काव्यों में राजा को 'प्रजापति' कहा है, चूँकि वह प्रजा का रक्षण एवं पोषण करता था । कालिदास की कलम इससे भी आगे बढ़ी है, उसने राजा को 'प्रजापिता' के रूप में अंकित किया है ।

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।^१

प्रजा में विनय आदि के संस्कार भरने, तथा उसकी रक्षण भरण आदि की सुन्दर व्यवस्था करने के कारण वास्तव में राजा ही प्रजा का पिता है, "पिता तो केवल जन्म देने के कारण पिता है ।"

१. रघुवंश में महाराज दिलीप का वर्णन ।

‘पति’ के साथ ‘स्वामित्व’ की भावना जुड़ी है, जब कि ‘पिता’ के साथ वात्सल्यपूर्ण दायित्व का संस्कार है। पिता प्रजा को ‘सेवक’ के रूप में नहीं, संतान के रूप में देखता है, उसकी सुख-दुःख की अनुभूति में तादात्म्य करता है। प्रजा के सुख के लिए अपना जीवन अर्पण कर देता है और उसके दुःख दारिद्र्य की चादर स्वयं ओढ़ लेता है।

सन् १९१६ में लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन के बाद गांधीजी चम्पारन गये। बा उनके साथ एक गांव में गई, वहां औरतों के कपड़े बहुत गंदे देखकर बा ने उन्हें सफाई रखने के लिए समझाया।

एक गरीब किसान औरत जिसके तन पर फटा हुआ गंदा एक ही कपड़ा था। बा को अपनी भौंपड़ी में ले गई। और बोली—“माताजी ! देखिए आप, मेरे घर में कुछ भी नहीं है, सिर्फ यह एक मैली धोती है जो मेरी देह की लाज रखती है। अब बतलाइए मैं क्या पहनकर इसे धोऊं ?”

बा का हृदय द्रवित हो गया, उसने गरीब किसानों की कष्ट कहानी गांधीजी से सुनाई तो गदगद् हृदय से गांधीजी ने कहा—“इस गरीब देश में ऐसी लाखों बहनें हैं जिनके तन पर लाज रखने के लिए भी कपड़ा नहीं है और मैं कुर्ता धोती चादर पहने बैठा हूँ, जब मेरी मां-

बहनों को तन ढकने भर को कपड़ा नहीं है तो मुझे इतने कपड़े पहनने का क्या हक है?" भाव विह्वल-हृदय गांधी ने उसी दिन-लंगोटी पहन कर तन ढकने की प्रतिज्ञा कर राष्ट्रपिता का विरुद्ध सार्थक कर दिया ।

(बापू की कहानियां भाग २) ●

माता की आज्ञा

माता-ईश्वर की प्रतिकृति है। मनुष्य जाति पर उसके असीम उपकार हैं। संतान माता के ऋण का बदला चुकाने के लिए उसकी सेवा करें, मातृ आज्ञा का ईश्वराज्ञा की भांति आदर करे, यह मातृभक्ति का सहज स्वरूप है। जैन आगमों में माता को—देव गुरु जणणी^१—कह कर अत्यंत सम्मान के साथ पुकारा है। उपनिषद् एक स्वर से आदेश—उपदेश दे रहे हैं—‘मातृ देवो भव !’^२ माता की देव के तुल्य अर्चना करो।”

माता के गौरव का निदर्शन करते हुए मानव धर्म-शास्त्र के प्रणेता मनु ने लिखा है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।^३

१. उपासक ३।१३७ २. उपनिषद् ३. मनुस्मृति २।१४५

दश उपाध्यायों से एक आचार्य महान् है, सौ आचार्यों से एक पिता और हजार पिताओं से एक माता का गौरव अधिक है ।

श्री आशुतोष मुखर्जी के जीवन में मातृ-भक्ति का साकार रूप प्रतिबिम्बित हुआ था । श्री मुखर्जी जब कलकत्ता हाईकोर्ट के जज और कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर थे तो उनके मित्रों ने उन्हें विलायत जाने का आग्रह किया । वे स्वयं भी विदेश यात्रा के लिए उत्सुक थे । अपनी उत्सुकता और मित्रों का आग्रह लिए वे जब माता से विदेश यात्रा की अनुमति लेने पहुंचे तो धार्मिक विचारों से प्रतिबद्ध माता ने विदेश यात्रा की अनुमति नहीं दी ।

श्री मुखर्जी की यह बात जब भारत के गर्वनर जनरल लार्ड कर्जन को ज्ञात हुई तो वे पहले तो भारतीयों की अंधमातृभक्ति पर हंसे, फिर श्री आशुतोष मुखर्जी को बुलाकर कहा—“आपको विलायत जाना चाहिए ।”

मुखर्जी ने कहा—“मेरी माता की इच्छा नहीं है ।”

लार्ड कर्जन तनिक सत्ता से स्वर में बोले—“जाकर अपनी माता से कहिए, कि भारत के गर्वनर-जनरल आपको विलायत जाने की आज्ञा करते हैं ।”

स्वाभिमानी मातृभक्त मुखर्जी ने उत्तर दिया—“मैं

गर्वनर-जनरल महोदय से निवेदन करना चाहता हूँ कि आशुतोष मुखर्जी अपनी माता की आज्ञा भंग करके किसी दूसरे की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता, फिर भले ही वह भारत का गर्वनर-जनरल हो, या उससे भी कोई बड़ा अधिकारी हो ।” ●

आत्मभ्रांति

प्राचीन भारत के जीवनद्रष्टा संत मनोषी वशिष्ठ ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को जल-कमल-जीवन का मंत्र देते हुए कहा—

“कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर राघव !”^१

राघव ! बाहर में सदा सक्रिय एवं कर्तृत्वशील रहकर भीतर में अकर्तृत्व का अनुभव करते रहो । यही जीवन की श्रेष्ठ कला है ।

एकबार छत्रपति शिवाजी एक दुर्ग का निर्माण करवा रहे थे । समर्थ गुरु रामदास, जिनके चरणों में संपूर्ण मराठाराज्य समर्पित कर छत्रपति एक संरक्षक के रूप में सेवा कर रहे थे, सहसा उधर आ निकले ।

गुरु चरणों में विनयावनत हो छत्रपति ने दुर्ग का निरीक्षण करने की प्रार्थना की । धनाधन निर्माण कार्य

१. वाल्मीकि रामायण १८।२३

चल रहा था, गुरु ने पूछा—“शिवा ! यह सब क्या करवा रहे हो !”

शिवाजी ने कहा—“गुरुदेव ! कुछ नहीं ! यों ही इस बार अकाल की काली छाया से समूचा प्रान्त संत्रस्त हो रहा था, लोगों को न रोटी मिल रही थी, न रोजी ! तो कुछ प्रबंध कर दिया है, हजारों लोगों का पेट भर रहा है, सैकड़ों माताएं अपने अंचल से लिपटे दुध मुंहों का पोषण कर रही हैं ।”.....

“शिवा की वाणी में कर्तृत्व का अहं दीप्त हो रहा है, इसे जैसे लग रहा है, इस समूची सृष्टि का यंत्र उसी के हाथों से संचालित हो रहा है”—गुरु की अन्तर्भेदी दृष्टि ने शिवा के अन्तर में भांका, और पास में पड़े एक बड़े पत्थर की ओर संकेत कर पूछा—यह यहां क्यों पड़ा हुआ है ।”

“यों ही दुर्ग की दीवार में चुना जाने को”.....

“अच्छा, इसे तोड़ो”गुरु की आज्ञा से पत्थर तोड़ा गया और उसके बीच में पानी का छोटा-सा कुंड निकला जिससे फुदककर एक मेंढक बाहर आ गिरा ।

शिवाजी इस आश्चर्य जनक घटना को देख रहे थे । गुरु ने गंभीर दृष्टि से शिवाजी की ओर देखा और एक मधुर हास्य बिखेरते हुए पूछा—“शिवा ! इस मेंढक के जल एवं भोजन का प्रबंध भी तुमने ही किया होगा ?” गुरु के प्रश्न की सहज तोक्षणता ने शिवाजी के अन्तर

जह को वींघ डाला । भीतर ही भीतर अहंकार यों चूर हो गया जैसे कोई मिट्टी के ढेले पर पत्थर की गहरी गीट पड़ी हो । शिवाजी गुरु के चरणों में झुक गये ।

गुरु की ज्ञान-गरिमा-गरिष्ठ वाणी मुखरित हो उठी—‘शिवा ! मनुष्य अज्ञान की आँधी में भटक कर सोचता है इस सृष्टि यंत्र का संचालक मैं ही हूँ, मेरे ही चरणों की आहट से पृथ्वी की धड़कन चल रही है । वे उस मक्खी की भांति सोचते हैं—

अक्षघुरि समासीना मक्षिकैकावदत् पुरा ।
उत्थाप्यते मया मार्गे पांशुराशिरहो कियान ?

—एक मक्खी गाड़ी की घुरी पर सुख पूर्वक बैठी-बैठी कह रही थी—‘वाह, रास्ते पर मेरे चलने से कितनी धूल उड़ रही है ?’ पर सचमुच यह आत्म भ्रांति जीवन जगत का सबसे बड़ा धोखा है, अज्ञान है ।” ●

संगीत का आनंद

वाणी आनन्द की स्रोतस्विनी है, इसकी शीतल-मधुर-उच्छल धाराएं जब प्रवाहित होती हैं तो समस्त जीव-जगत आनंद की हिलारें लेने लगता है ।

वाणी में सरस्वती का निवास है,—‘वाचा सरस्वती’^१ वाणी समग्र विश्व की अधीश्वरी है तथा ऐश्वर्य की सृष्टि करने वाली है—“अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां^२— ।”

किस वाणी की यह अपार महिमा है ?

उस वाणी की, जो लोक मंगल के लिए आत्मा की मधुवर्षिणी स्वर लहरियों में व्यक्त होती है, जो अनन्त आनन्द की उपलब्धि के लिए निष्काम-निर्भय-निर्द्वन्द्व भाव से मुखरित होती है, केवल लोक रंजन की भावना से नहीं । जैन शास्त्रों की भाषा में—“सर्व्व जगजीव-रक्खण दयट्ठाए”^३ समस्तजग-जीवोंके प्रतिअसीम करुणा-अनुकंपा के अमृत से आप्लावित हो जो वाणी प्रवाहित

१. यजुर्वेद १६।१२

२. ऋग्वेद १०।१२५।३

होता है, वही वाणी आनंद की स्रोतस्विनी है उसी में आत्मा का निश्चलनाद प्रतिध्वनित होता है जो दिग्-विद्यन्त को रसपूरित कर देता है ।

जिस वाणी में कामना है, आत्मा की प्रसन्नता की उपेक्षा कर पर की प्रसन्नता की आकांक्षा है, वह वाणी चाहे जितनी संगीत की मधुरिमा लिए हो, चाहे जैसे काव्य चमत्कार से युक्त हो, उस अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति नहीं करा सकती ।

एक बार सम्राट् अकबर ने तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास जी का संगीत सुनने की अभिलाषा प्रकट की ! स्वामी हरिदास कहीं राज दरबार में जाते-आते नहीं थे, किसी को प्रसन्न करने के लिए कहने पर गाते नहीं थे । वे तो जब अन्तर में आनंद की हिलोर उठती तो जहां कहीं बैठे प्रभुभक्ति के स्वरो में मधु घोलने लग जाते । तानसेन स्वामी जी की आनंद विभोर अवस्था में एक बार अकबर को उनके चरणों में ले गये । उनकी आनन्द वर्षिणी स्वर भङ्कृतियों से अकबर का अन्तःकरण भ्रूम उठा । प्रभु भक्ति के आनंद से हृदय का कण-कण आप्लावित हो उठा ।

उन आनन्दमय क्षणों की याद करके एक बार अकबर ने तानसेन से कहा—“तानसेन, तुम भी तो बहुत सुन्दर गाते हो, तुम्हारे स्वरो में भी अद्भुत मिठास है, किंतु जिस आनन्द की मधुर अनुभूति तुम्हारे गुरु के संगीत में

हुई वह तो कुछ अपूर्व ही थी। वैसा आनन्द आज तक नहीं मिला।”

तानसेन ने छूटते ही कहा—“जहाँपनाह ! इसका तो एक खास कारण है ?”

अकबर ने गंभीर होकर पूछा—‘क्या’ ?

“मेरे गुरुजी अपनी इच्छा और अपनी मौज में गाते हैं, किन्तु मुझे जहाँपनाह की आज्ञा पर और आपकी मर्जी से गाना पड़ता है।

तानसेन के उत्तर पर अकबर मौन हो गए ! ●

तानसेन के उत्तर में काव्य-संगीत व साहित्य-कला का चरम उत्कर्ष—‘स्वान्तः सुखाय’ अभिव्यक्त होता है।

सत्पुरुष का आभूषण

आचार्य बुद्धघोष ने कहा है—

सोभन्तेवं न राजानो मुक्तामणिविभूसिता
यथा सोभन्ति यतिनो सीलभूसनभूसिता ॥^१

बहुमूल्य मोतियों के हार और सुन्दर परिधानों से विभूषित राजा ऐसा सुशोभित नहीं होता है, जैसा कि शील सदाचार के आभूषणों से विभूषित सत्पुरुष शोभित होता है ।

वास्तव में शील ही सबसे बड़ा आभूषण है—
“शीलं परं भूषणं ।” शील की सुगन्ध बहुत ही मधुर, श्रेष्ठ और शीतल है, इस आभूषण से न केवल शीलवान ही सुशोभित होता है, किंतु शीलवान का परिपाश्वर्य, परिवार, समाज और राष्ट्र भी उससे गौरवान्वित होता है, उस मधुर गंध से संपूर्ण महीतल सुवासित हो उठता है ।

१. विसुद्धिमग्गो १।२४

१७१

जिसके पास शील के आभूषण हैं—उसे अन्य आभूषणों की कभी कोई अपेक्षा नहीं रहती। शीलवान का जीवन उन्नत एवं मन गौरव से परिपूर्ण रहता है।

श्रीराम शास्त्री, पेशवा माधवराव जी के गुरु, मंत्री एवं प्रधान न्यायाधीश के पद पर आसीन होकर भी अत्यंत सादगी एवं सीधे-सादे ढंग से रहते थे।

एक बार शास्त्रीजी की पत्नी किसी पर्वके उपलक्ष्य में राजमहल में गईं। रानी ने देखा—“राजगुरु की पत्नी के तन पर आभूषण के नाम पर सोना क्या, चाँदी का एक तार भी नहीं। रानी को लगा, लोग इसमें ‘राजकुल की कृपणता’ का दर्शन करेंगे, अतः उसने गुरु पत्नी को बहुमूल्य वस्त्रों एवं आभूषणों से अलंकृत कर दिया।

गुरु पत्नी पालकी में बैठ कर घर पहुँची, तो द्वार बंद था, कहारों ने आवाज लगाई, द्वार खुला और फिर भट से बंद हो गया। फिर आवाज आई—“शास्त्रीजी ! आपकी धर्म पत्नी आई हैं द्वार खोलिए !”

“बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सजी ये और कोई देवी है, मेरी ब्राह्मणी ऐसे वस्त्र और गहने नहीं पहन सकती। तुम लोग भूल से मेरे द्वार पर आये हो।”—भीतर से आवाज आई। पत्नी ने पति का आशय समझ लिया, वे पुनः राजमहलों की ओर लौटी और वस्त्र आभूषण उतारकर महारानी को सौंपे और कहा—“इन आभूषणों ने तो मेरे लिए घर का द्वार भी बंद कर दिया है।”

अपनी पुरानी साड़ी पहन वे पैदल ही घर लौटी, द्वार खुला था। क्षमा मांगने ज्योंही वे पती के चरण छूने लगी, शास्त्री जी बोले—“ये बहुमूल्य वस्त्र आभूषण या तो राजपुरुषों को शोभा देते हैं, या मूर्खों को, जो इनसे अपनी अज्ञता छिपाने का प्रयत्न करते हैं सत्पुरुषों का आभूषण तो सादगी, शील और सदाचार है।” ●

संयम ही महान् बनाता है !

अथर्ववेद में एक स्थान पर पूछा गया है—“राष्ट्र की रक्षा करने वाले राजा में किन गुणों की आवश्यकता है ?”

उत्तर में दो महान् गुणों की चर्चा करते हुए कहा है—“ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति”^१— ब्रह्मचर्य और तप की साधना से राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है ।

ब्रह्मचर्य के द्वारा—अपने मन पर, इन्द्रियों पर, शरीर पर और परिस्थितियों पर-विजय प्राप्त की जाती है ।

तप—मनुष्य को अपने कर्तव्य पालन के लिए सतत जागरूक, निष्ठावान् और श्रमशील बनाता है ।

ब्रह्मचर्य से पुरुष—मनोबली, साहसी, तेजस्वी और अपराजेय बनता है, तप से मनुष्य कर्तव्यनिष्ठ, उद्योगी और जागरूक रहता है । ये दो महान् गुण जिस मानव

में होते हैं, उसकी महानता स्वतः ही संसार में चमक उठती है जैसे पूर्व के अंचल पर दिवाकर !

नेपोलियन का अध्ययनकाल काफी गरीबी में गुजरा था। वह एक नाई के घर पर रहकर अध्ययन करता था। सुन्दरता और सुकुमारता ने उसके यौवन को आकर्षक और मोहक बना दिया था। नाई की स्त्री उस पर मुग्ध हो रही थी, और वह उसे अपनी ओर खींचने के अनेक प्रयत्न करने लगी। पर नेपोलियन की आँखें पुस्तक के सिवाय किसी चेहरे पर टिकती ही नहीं थीं।

फ्रांस देश का सेनापति बनने के बाद नेपोलियन एक बार उसी स्थान पर गया। नाई की स्त्री दुकान पर बैठी थी। उसने पूछा—“तुम्हारे यहाँ बोनापार्ट नाम का एक युवक रहता था, कुछ स्मरण है तुम्हें ?”

स्त्री ने भुंभला कर कहा—“ओह ! बड़ा नीरस और बेदिल था वह ! मुंह भर मीठी बात तक करना नहीं सीखा था ! पुस्तक-पुस्तक-और पुस्तक ; कीड़ा था वह पुस्तकों का। रहने दीजिए उसकी चर्चा भी।”

नेपोलियन मुस्कराया—“ठीक कहती हो देवि ! संयम ही मनुष्य को महान् बनाता है। बोनापार्ट तुम्हारी रसिकता में उलभ गया होता तो आज फ्रांस जैसे महान् देश का प्रधान सेनापति बनकर तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकता था !”



राक्षसी और देवी

नारी सृष्टि की महती शक्ति है। उसने निर्मात्री शक्ति के रूप में भी इतिहास को मोड़ दिया है, संहारिणी शक्ति के रूप में भी ! इसलिए वह भगवान महावीर की सत्यानुभूति में—‘देव गुरु जणणी’—परम वन्दनीया मातृ शक्ति के रूप में वंदित हुई है, तो “बहु-मायाओ इत्थिया^२”—स्त्रियां मायाविनी और धूर्त होती हैं—के राक्षसी रूप में भी ! शंकराचार्य ने जहाँ—“द्वारं किमेकं नरकस्य नारी^३”—के द्वारा उसके एक पहलू को व्यक्त किया है तो ऋग्वेद के ऋषि ने उसे—“सुमंगली रियं वधू^४” यह गृहवधू सुमंगली, कल्याणवाली है—कह कर नारी के उज्ज्वल पक्ष को उजागर भी कर दिया है।

१. उपासक ३।१३७

२. सूत्रकृतांग

३. प्रश्नोत्तरी

४. ऋग्वेद १०।८५।३३

सूत्र में भगवान महावीर ने चार प्रकार बताये हैं। उनमें प्रथम दो प्रकार नारी के **दो** रूपों के परिचायक हैं।

विणाममेगे देवीए सद्धि संवासं गच्छति ।

विणाममेगे रक्खसीए सद्धि संवासं गच्छति ।

देव का देवी के साथ सहवास—शिष्ट भद्र पुरुष और शुशीला नारी । देव का राक्षसी के साथ सहवास—शिष्ट भद्र पुरुष और कर्कशानारी ।

इन दोनों रूपों पर इतिहास प्रसिद्ध कुछ महापुरुषों के जीवन की प्रतिनिधि घटनाएँ हैं ।

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन बहुत ही आदर्शवादी उच्चनेता थे । किंतु उनकी पत्नी श्रीमती लिंकन बहुत ही क्रूर एवं भगड़ालू स्वभाव की थी । लिंकन के जीवनी लेखक जिमीमाइल्स ने कहा है—“एक बार तो श्रीमती लिंकन ने अपने पति देव का सत्कार अतिथियों के सामने उन पर गर्म चाय का प्याला फेंक कर किया ।”

प्रासद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात की यह उक्ति तो प्रसिद्ध ही है कि—किसी ने उससे पूछा—“विवाह करना चाहिए या नहीं !”

सुकरात ने कहा—‘अवश्य ! यदि सौभाग्य से पत्नी शांत स्वभाव की मिली तो जीवन आनन्द पूर्वक बीतेगा,

और यदि क्रूर स्वभाव की मिली तो दार्शनिक बन जाओगे।”

सुकरात जब पत्नी के कलह से खिन्न होकर देहलीज पर बैठे थे तो पत्नी बड़ बड़ाती हुई आई और उन पर पानी का एक लोटा ऊँडेल डाला। सुकरात ने पत्नी की ओर देखा और मुस्करा कर बोले—“मुझे मालूम है, बादल गरजने के बाद बरसते भी हैं।”

और यह लीजिए आधुनिक युग के विचार-पुरुष टालस्टाय ! टालस्टाय, जिन्हें गांधी जी भी अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक मानते थे। उनका दाम्पत्य जीवन सदैव शूलों की शैया बना रहा। गोर्की ने जब टालस्टाय से एक बार उनकी पीड़ाओं के बारे में पूछा तो, अपने दाम्पत्य जीवन की समस्त पीड़ाओं को एक ही वाक्य में उँडेलते हुए टालस्टाय ने कहा—“भूकम्प के आतंक से आदमी का उद्धार हो सकता है, रोगों की विभीषिका से उसे मुक्ति मिल सकती है, आत्म-पीड़ा से भी उसे बचाया जा सकता है, लेकिन पत्नी के अत्याचार से पति को संरक्षण प्राप्त कर सकना त्रिकाल में भी संभव नहीं है।”

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत तुकाराम की पत्नी की क्रूरता और भगड़ालु स्वभाव तो चरम कोटि का था। तुकाराम एक बार जब खेत में से गन्ने लेकर घर आये तो पत्नी उन पर शब्द प्रहार करती हुई ईक्षु-प्रहार करने

पर भी उतारू हो गई। संत की पीठ पर प्रहार होते ही गन्ना टूट गया, और तुकाराम मुस्कराकर बोले—
“अच्छा हुआ, जो मुझे गन्ना तोड़ना नहीं पड़ा, तुम्हीं ने तोड़ दिया।”

ये हैं देव और राक्षसी के उदाहरण, तो अब लीजिए देव-देवी के जीवन की पवित्र भांकी।

दक्षिण के महान् संत एकनाथ का दाम्पत्य जीवन आदर्श था। क्षमा और सहिष्णुता में एकनाथ प्रसिद्ध थे, और उनसे भी ज्यादा उनकी पत्नी की ख्याति थी। कहते हैं, एकबार किसी युवक ने एकनाथ को क्रोध दिलाने की एक तरकीब निकाली। भोजन के समय वह एकनाथ के पास आकर बैठ गया। एकनाथ ने उसे भी भोजन करने का आग्रह किया। जब एकनाथ की पत्नी भोजन परोसने आई तो युवक उछल कर उनकी पीठ पर चढ़ गया।

संत ने हंसकर कहा—“देखना, मेहमान कहीं गिर न पड़े।” पत्नी ने हंस कर कहा—“नहीं! कोई बात नहीं है, नामू (नामदेव) जब छोटा था तो कभी-कभी मेरी पीठ पर यों ही चढ़ जाया करता था, मुझे बच्चे को पीठ पर उठाए काम करने की आदत है।”

और यह देखिए जहाँ नारी के चरणों से गृहस्थी के रेगिस्तान हरे-भरे चमन बन गये हैं।

गांधीजी और कस्तूरबा का जीवन सचमुच ऋग्वेद के इस सूक्त का सजीव चित्र था—“जाया विशते पतिं” —पत्नी पति में मिल जाती है, पति के मन, वचन और कर्म के साथ एकाकार हो जाती है।

गांधीजी ने ‘आत्मकथा’ में लिखा है—“बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझ में समा जाना था।” कस्तूरबा ने अपना ‘स्व’ गांधीजी के व्यक्तित्वमें इस आराधना के साथ लीन कर दिया था कि उसका ‘अहं’ गांधीजी के व्यक्तित्व का तेज बनकर निखर उठा था। वह गांधीजी के जीवन का अविभाज्य अंग बन गई थी, जिसके लिए गांधीजी को भी कहना पड़ा—“मैंने तो सत्याग्रह बा से सीखा है।”

और कुछ पीछे चलिए, तो देखिये संस्कृत के प्रखर प्रतिभासम्पन्न महाकवि माघ का दाम्पत्य ! एक बार किसी दिन याचक की याचना से माघ द्रवित हो उठे। घर में इधर-उधर देखा, पर देने के लिए कुछ नहीं था। सहसा निद्रालीन पत्नी के हाथ के चमकते स्वर्ण कंगन पर दृष्टि गिरी, और महाकवि चुपके से पत्नी का एक कंगन निकालने लगे। कंगन अंगुलियों को छूने लगा तो पत्नी जाग गई। महाकवि मन-ही-मन कांप उठे—“पत्नी ने पति को रंगे हाथ चोरी करते पकड़ लिया।” पर पत्नी भी, वह आदर्श देवी थी, उसने दूसरे हाथ का कंगन भी निकालकर महाकवि को दे दिया, “एक

कंगन से उस दीन की आवश्यकता पूर्ति कैसे होगी ?
ले जाइये, उसे दोनों ही कंगन दे दीजिए ।”

और यह है एक विरल उदाहरण स्वतंत्र भारत के प्रथम भाग्य-पुरुष नेहरू जी के आदर्श-दाम्पत्य का । अपनी स्वर्गीय पत्नी कमला के सम्बन्ध में नेहरू जी ने ‘आत्मकथा’ में लिखा है—‘अपने जीवन पर्यन्त मेरी पत्नी ने मुझसे जो उत्तम व्यवहार किया, उसका मैं ऋणी हूँ । स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होती हुई भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों को बर्दाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शांति और संतोष की आवश्यकता पड़ी उसने मुझे निराश नहीं किया ।’

नारी गृहस्थ जीवन के नन्दनवन की शोभा है । उसने जब-जब अपने दिव्य रूप को प्रकट किया है पुरुष के सत्संकल्पों के कल्पवृक्ष लहलहा उठे हैं । किंतु जब वह अपने विकृत रूप में प्रकट हुई है, तो पुरुष के जीवन के आनन्द एवं शांति के भरने सूख गये और वह संसार में देवी के नाम पर ‘राक्षसी’ का चरित्र निर्माण कर गई ।



अद्भुत तितिक्षा

जिसका क्रोध शांत हो गया उसकी उद्विग्नता समाप्त हो गई, जिसकी उद्विग्नता मिट गई, संसार में उसके लिए सर्वत्र शांति का साम्राज्य है। संसार का कोई दुष्ट, क्रूर या दुर्जन उसे उत्पीड़ित नहीं कर सकता। क्रोध एवं क्लेश के प्रहार उस पर वैसे ही निरर्थक होते हैं, जैसे महासागर में फेंक गये पत्थर।

प्रसिद्ध बौद्ध स्थविरों के वचन संग्रह 'थेर गाथा' में कहा गया है—

उपसंतो उपरतो मन्तभाणी अनुद्धतो ।

धुनाति पापके धम्मे दुमपत्तं व मालुतो ॥

जिसका हृदय उपशांत हो गया है, जो क्लेशों से दूर है, जो विचार पूर्वक कम बोलता है और कभी अहंकार नहीं करता, वह अपने पापधर्मों—क्लेशों को उसी प्रकार उड़ा देता है, जिस प्रकार हवा वृक्ष के सूखे पत्तों को।

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत तिरुवल्लुवर के जीवन का प्रसंग है। तिरुवल्लुवर जुलाहा थे, साड़ियां बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे।

एक बार कुछ युवक उधर से निकले। किसी ने कहा—“यह सधा हुआ संत है, इसे कभी क्रोध नहीं आता।” एक उद्दण्ड धनी युवक भी उस टोली में था। उसने कहा—“चलो, परीक्षा करके देखें, इसे क्रोध आता है या नहीं?” मनचले युवकों की टोली तिरुवल्लुवर के सामने आ खड़ी हुई। उद्दण्ड युवक ने साड़ी उठाई, और घूर कर पूछा—“कितने की है यह साड़ी?”

“दो रुपए की!” तिरुवल्लुवर बोले।

युवक ने साड़ी के दो टुकड़े किए और एक टुकड़ा हाथ में लेकर पूछा—“यह कितने का है?”

संत ने उसी शांति के साथ उत्तर दिया—“एक रुपये का।”

युवक टुकड़े करता गया, और बार-बार उसका मूल्य पूछता गया। साड़ी का एक-एक तार उसने बिखेर दिया। इस छिछोरेपन को देखकर भी तिरुवल्लुवर शांति के साथ उत्तर देते गए। उनके चेहरे पर क्रोध व अशांति की एक तनिक-सी रेखा भी नहीं थी।

शालीनता के समक्ष उद्दण्डता पराजित हो गई। युवक का नशा उतर गया, उसने जेब से दो रुपए

निकाले—“मैंने तुम्हारा नुकसान कर दिया, ये लो दो रूपए।”

संत ने हंसकर लौटाते हुए युवक की आँखों में झाँका—“वत्स ! पिता कहेगा, माल लाया नहीं, और पैसा कहाँ खो आया ? अतः अपने रूपए अपने पास रखो।”

टोली के सभी युवक संत की तितिक्षा के समक्ष विनत हो गए—“तिरुवल्लुवर ! तुम सचमुच ही महान् संत हो, हम तुम्हें क्रोध दिलाने आये थे, पर तुमने हमें जीत लिया अपनी अद्भुत क्षमा से।” ●

सद्व्यवहार

संत तुलसीदासजी की एक उक्ति है—

‘तुलसी’ या संसार में सबतें मिलिए धाय ।

का जाने काहि भेस में नारायण मिल जाय ।

कोई छोटा हो या बड़ा, परिचित हो या अपरिचित मनुष्य सर्वदा सबके साथ मधुरता और सद्व्यवहार से पेश आये यह लोकनीति का सूत्र है ।

महर्षि वाल्मीकि तो इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं—

—कार्याणां कर्मणां पारं यो गच्छति स बुद्धिमान् ।’

मनुष्य अपने कर्तव्य कर्म को, केवल कर्तव्य बुद्धि से करता चला जाये, अगल-बगल न देखे, वही सबसे बड़ा बुद्धिमान है ।

व्यावहारिकता सिखाती है कि, हंसमुख चेहरा, मीठी वाणी और शिष्ट बर्ताव—रखते समय यह मत देखिये कि सामने कौन है ? मेरा परिचित है या नहीं ? किन्तु

१. वाल्मीकि रामायण ८८।१४

यह देखिए कि सामने एक आप जैसा ही मनुष्य है, जिसका मन भी आपकी तरह इन गुणों का भूखा है। और यह मत भूलिए कि शिष्टता, सद्ब्यवहार की बेल बगीचे में डाले बीज की तरह फलवती बनकर आपको कृतार्थ कर सकती है।

एकबार अमेरिका के धनकुबेर कारनेगी की पत्नी अकेली ही शाम को पैदल घूमने निकली। संयोग से पानी बरसने लगा। वह बरसात से बचने के लिए रास्ते की एक दुकान पर जाकर खड़ी हो गई।

दुकान में छुट्टी हो गई थी, थके-मांदे कर्मचारी घर जाने की जल्दी में थे, किसी ने अपरिचित महिला की ओर देखा तक नहीं। एक साधारण क्लर्क की नजर उस भद्र महिला पर पड़ी। अपरिचित स्त्री के प्रति साधारण शिष्टाचार दिखाते हुए उसने एक कुर्सी भीतर से लाकर रखी और आग्रहपूर्वक बैठते हुए कहा—“श्रीमती जी ! क्या मैं आपकी कुछ सेवा कर सकता हूँ।”

श्रीमती कारनेगी ने बताया—“वर्षा के कारण मुझे रुकना पड़ा है।” वह युवक की शिष्टता और सभ्यता से बहुत प्रभावित हुई। वर्षा बन्द होने पर श्रीमती कारनेगी धन्यवाद देकर चली गई।

दूसरे दिन अचानक एक आदमी उस दुकान में आया और उस क्लर्क से कहा—“आपको श्रीमती कारनेगी ने बुलाया है।” विस्मित हुआ युवक जब श्रीमती कारनेगी

की कोठी पर पहुंचा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। “यह तो वही भद्र महिला है जो कल सायंकाल वर्षा के कारण उसकी दुकान पर रुकी थी।” युवक ने अभिवादन किया।

श्रीमती कारनेगी ने युवक को आदरपूर्वक बैठाकर कहा—“स्काटलैंड में मैंने बहुत बड़ी जायदाद खरीदी है, वहां के लिए मुझे एक सुयोग्य प्रबन्धक की जरूरत है। वेतन स्तर बहुत अच्छा होगा। यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो मैं आप जैसे सुसभ्य प्रबंधक को पाकर प्रसन्न रहूंगी।”

युवक अपनी बदलती तकदीर की तस्वीर देखते खड़ा रहा। एक छोटे से सद्व्यवहार ने उसके जीवन की दिशा बदल दी। ●

दया का असली रूप

दया का स्रोत जब हृदय में उमड़ता है तो ऊंच-नीच, मनुष्य और पशु की सीमाओं को तोड़कर चैतन्य मात्र को उसके अमृत रस से आप्लावित कर देता है।

वस्तुतः दया की धारा दूसरे का दुःख दूर करने के लिए नहीं, अपितु अपना ही दुःख दूर करने के लिए हृदय से उत्स्यंदित होती है। आचार्य जिनभद्रगणि ने दया और अनुकंपा की यही मौलिक परिभाषा की है—
“जो दूसरे के दुःख व कष्ट रूप ताप से स्वयं तप्त हो उठे वही दयावान है। दूसरों को पीड़ा से कांपते देखकर जिसका हृदय कांप उठे—यही तो अनुकंपा है” —

जो उ परं कंपतं दट्ठुण न कंपए कढिणभावो
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छा भावजोएणं ।’

दूसरे को पीड़ा से प्रकम्पित होता देखकर जिसका हृदय कंपित न हो जाये, वह कठिन हृदय निरनुकंप कहलाता है। चूंकि अनुकंपा का अर्थ ही है—कांपते हुए को देखकर कंपित हो उठना।”

अमेरिका के एक राष्ट्रपति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे एक बार राजसभा में अपना भाषण देने जा रहे थे। मार्ग में देखा कि—एक दलदल में फंसा सूअर निकलने का जी तोड़ प्रयत्न कर रहा है, पर ज्यों-ज्यों वह प्रयत्न करता है, अधिक गहरा धंसता जा रहा है।

सूअर की दयनीय दशा ने राष्ट्रपति के हृदय को द्रवित कर दिया। वे तत्क्षण अपनी राजसभा की पोशाक में ही कीचड़ में कूदे और पूरी ताकत लगाकर सूअर को बाहर निकाल लाये।

राजसभा में भाषण का समय हो गया था, कपड़े बदलने में और अधिक विलम्ब होता, अतः राष्ट्रपति उन्हीं कपड़ों को जरा पूछ पाँछकर सीधे राजसभा में ठीक समय पर पहुँच गये।

सदस्यों ने राष्ट्रपति के कीचड़ भरे कपड़े देखे तो आश्चर्य में डूब गये। जब घटना सुनी तो मुक्त कंठ से राष्ट्रपति की दयालुता की प्रशंसा करने लगे। राष्ट्रपति ने सदस्यों को प्रशंसा करने से रोकते हुए कहा—“मैंने कोई दया का काम नहीं किया है, वास्तव में सूअर को कीचड़ में बुरी तरह धंसा देखकर मेरा हृदय दुःखी हो उठा। मैंने अपना दुःख दूर करने के लिए ही उसे बाहर निकाला, इसमें प्रशंसा की कौन-सी बात है।” ●

रसायन का उपयोग

आधुनिक विज्ञान के पिता आइंस्टीन से पूछा गया—
“विज्ञान की असीम उपलब्धियों का लक्ष्य क्या है ?”

“मानवता की सेवा”— आइंस्टीन ने छोटा-सा उत्तर दिया, जिसमें समस्त ज्ञान-विज्ञान की दिशा-दृष्टि झलक उठी।

उपनिषद् में एक जगह पूछा गया है—“ब्रह्म क्या है ? अर्थात् ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?

उत्तर में एक छोटा सा सूक्त कहा गया है—“अभयं वै ब्रह्म” अभय ही ब्रह्म—समस्त ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य है।

मनुष्य स्वयं अभय हो, दूसरों को अभय दे। स्वयं श्रम करे और अपने श्रम बल से दूसरों को लाभान्वित करे—यह उसके ज्ञान, विज्ञान और बुद्धिबल की उपयोगिता है।

प्रख्यात रसायनशास्त्री आचार्य नागार्जुन को अपनी प्रयोगशाला के लिए एक सहायक की आवश्यकता थी !

इस पद के लिए दो युवक उनके समक्ष उपस्थित हुए ।

आचार्य ने उनके व्यावहारिक ज्ञान की परीक्षा लेनी चाही । एक तरल पदार्थ उनके हाथ में देते हुए कहा—
“दो दिन में इसका रसायन तैयार करके लाइये ।”

तीसरे दिन दोनों युवक आचार्य के कार्यालय में उपस्थित हुए । एक ने अपना तैयार रसायन सामने रखा । आचार्य ने दूसरे की ओर देखा, उसने क्षमा मांगते हुए निवेदन किया—“मैं जब यहां से आपका दिया हुआ पदार्थ लेकर जा रहा था तो रास्ते में एक वृद्ध व्यक्ति मिला जिसका शरीर ज्वर से संतप्त था । मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सका, दो दिन तक लगातार उसकी सेवा में लगा रहा, अतः रसायन तैयार नहीं कर सका ।”

आचार्य ने कार्यालय अध्यक्ष को सूचित किया—
“इसी युवक को सहायक पद पर नियुक्त किया जाय । क्योंकि आखिर रसायन का उपयोग भी तो मानव सेवा के लिए ही है ।” ●

उत्साह का ज्वार

दृढ़ संकल्प नदी का वह प्रवाह है, जिसे चट्टानों से रास्ता नहीं मांगना पड़ता, वह जिधर भी मुड़ जाता है अपने आप रास्ता बन जाता है।

रससिद्ध कवि जगन्नाथ की उक्ति है—“यदि पथि विपथे वा यद् ब्रजामः स पन्था” —दृढ़ संकल्प और साहस लिए हम टेढ़े-मेढ़े जिस रास्ते से भी निकल जाते हैं, वही मार्ग बन जाता है।

मनुष्य के संकल्प को उद्बोधित करने वाला एक वैदिक वचन है—

“अश्मन्वती रीयते, संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।”^१ मित्रो, यह अश्मन्वती—पत्थरों से भरी नदी बह रही है। (कठिनाइयाँ खड़ी हैं) दृढ़ता से तनकर खड़े हो जाओ, ठीक प्रयत्न करो और इसे लांघकर किनारे चले जाओ।

१. ऋग्वेद १०।६३।८

कहावत है—जहां चाह, वहां राह ! हृदय में यदि सच्ची लगन है, तो फिर कहीं किसी से मुहूर्त पूछने की और तरीका समझने की जरूरत नहीं, उत्साह का ज्वार अपने आप रास्ता बना लेगा ।

एक बार प्रसिद्ध संगीतकार मोजार्ट से एक संगीत प्रेमी बालक ने पूछा—“मैं तुम्हारे जैसा महान संगीतज्ञ बनना चाहता हूँ, मुझे क्या करना चाहिए ?”

“तुम अभी बहुत छोटे हो,”—मोजार्ट ने कहा ।

“लेकिन मेरी उम्र में तो तुम प्रसिद्ध संगीतकार बन गये थे,”—बालक ने आग्रह के स्वर में कहा ।

“तुम्हारा कथन सत्य है बालक ! किन्तु मैं किसी को पूछने नहीं गया था, और न किसी की नकल की थी । अन्तर हृदय में उत्साह का एक ज्वार, इस तेजी से उठा, कि अपने आप एक राह मिल गई ।”—मोजार्ट के उत्तर में संकल्प की दृढ़ता झलक रही थी । ●

ऐसे बोलो...

कमान से छूटा तीर और जबान से छूटा शब्द कभी लौट कर नहीं आते। इसलिए मुंह से जो बात कही जाय वह सोच समझकर ही कहनी चाहिए।

आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र में एक जगह कहा है—

“वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणु बंधीणि महवभयाणि ।”

वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्म तक वैर एवं भय की परंपरा खड़ी कर देते हैं।

इसलिए नीति का कथन है—पहले तोलो, फिर बोलो! बोलने के पहले शब्द तुम्हारे हैं, बोलने के बाद वे पराये हो जाते हैं।

एक बार हजरत मुहम्मद के पास एक व्यक्ति आया । वह गिड़गिड़ाता हुआ बोला—“मैंने अमुक आदमी को बहुत गालियां दी हैं, किन्तु अब मुझे अपने करतब पर बहुत रंज हो रहा है, कोई ऐसा उपाय बताइए कि मैं अपनी बुरी जबान को वापिस खींच लूँ ।”

मुहम्मद साहब ने एक अकतूलिए का तकिया उसे दिया और बोले—“इसमें से दो चार टुकड़े निकाल लो और इन्हें गांव भर में बिखेर दो । कल सुबह तुम फिर मेरे पास आना ।”

प्रातः वह व्यक्ति मुहम्मद के पास पहुंचा, तो मुहम्मद साहब बोले—“जो अकतूलिए तुमने गांव में बिखेरे थे उन्हें वापस बीनकर मेरे पास लाओ ।”

वह दिन भर गांव में घूमता रहा, पर एक भी अकतूलिया उसके हाथ नहीं लगा । सायंकाल निराश होकर लौटा—“हजरत ! वे तो हवा में उड़ गये, एक भी कहीं नहीं मिला ।”

मुहम्मद साहब ने कहा—“निंदा वाणी तो उससे भी बारीक है । एक बार मुंह से जो शब्द निकल गये वे फिर कभी लौटकर नहीं आते । इसलिए पहले ही जो कुछ बोलो, वह सोच समझकर बोलो और ऐसा बोलो कि फिर पछताना नहीं पड़े ।”

यही बात कबीर जी ने कही है—

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय ।

औरन को शीतल करै आपहु शीतल होय । ●

सर्वश्रेष्ठ शासक

शासन करना एक श्रेष्ठ कला है ।

जो शासक अपनी प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करता है, उसके भरण-पोषण, शिक्षा, चिकित्सा और जीवन की आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था कर—उसका संरक्षण करता है, वह वास्तव में शासक है, अन्यथा वही शोषक बन जाता है ।

तथागत बुद्ध से एकबार श्रावस्ती नरेश प्रसेनजित ने शासन-नीति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उत्तर में बुद्ध ने कहा—

महारुक्खस्स फलिनो पक्कं छिन्दति यो फलं ।
 रसञ्चस्स विजानाति वीजञ्चस्स न नस्सति ।
 महारुक्खूपमं रट्ठं धम्मेन यो पसासति ।
 रसञ्चस्स विजानाति रट्ठञ्चस्स न नस्सति ।

जातक १८।५२८।१७४-१७५

१९६

फल वाले महान वृक्ष के पके हुए फल का जो तोड़ता है, उसको फल का रस भी मिलता है, और भविष्य में फलने वाला बीज भी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जो राजा महान् वृक्ष के समान राष्ट्र का धर्म से प्रशासन करता है, वह राज्य का रस (आनन्द) भी लेता है और और उसका राज्य भी सुरक्षित रहता है।

एक बार सम्राट अशोक के जन्म दिवस पर सभी प्रान्तों के प्रशासक बधाइयाँ देने को पहुँचे। सम्राट् की ओर से भी राज्य के सर्वश्रेष्ठ शासक को पुरस्कृत करने की घोषणा की गई।

अपने राज्य की स्थिति व शासन-कुशलता का परिचय-कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। एक प्रान्तपति ने खड़े होकर कहा—“इस वर्ष मैंने अपने प्रान्त की आय में तीन गुनी वृद्धि की है।”

एक दूसरे प्रांत के शासक उठे—“मैंने इस वर्ष राज्य-कोष में गत वर्ष से दुगुना स्वर्ण दिया है।”

फिर एक प्रदेश के अधिकारी मंच पर आए—मेरे-राज्य में प्रजा से प्राप्त होने वाली आय बढ़ी है, सेवकों के वेतन गतवर्ष से कम कर दिए हैं। राज्य के व्यय में भी कटौती की गई है।”

अन्त में मगध के प्रान्तीय शासक आये। नम्रता पूर्वक उन्होंने कहा—“महामहिम सम्राट् को मैं क्या निवेदन करूँ ? मेरे प्रान्त ने इस वर्ष बहुत कम स्वर्ण

राज्यकोष में दिया है। प्रजा के कर पहले से कुछ घटा दिए गये हैं, राज-सेवकों को भी विशेष सुविधाएँ दी गई हैं। ग्रीष्मकाल की दुःसह धूप व प्यास से बचने के लिए अनेक स्थानों पर विश्राम-स्थल व कुएँ बनाए गए हैं। रोगियों के लिए निःशुल्क चिकित्सालय, तथा प्रजा के बालकों की शिक्षा के लिए अनेक पाठशालाएँ राज्य की ओर से खोली गई हैं। इस कारण राज्य के कोष में गत वर्ष की अपेक्षा कम स्वर्ण प्राप्त हुआ है।”

प्रियदर्शी अशोक तभी सिंहासन से उठे—“मुझे प्रजा के शोषण से प्राप्त होने वाली स्वर्णराशि नहीं चाहिए। मैं अपनी प्रजा को अधिक से अधिक सुखी देखना चाहता हूँ, और इसलिए अपने प्रांताध्यक्षों को श्रेष्ठ शासक के रूप में देखना चाहता हूँ न कि शोषक के रूप में। मगध के प्रान्तीय शासक सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। इस वर्ष का पुरस्कार उनका गौरव बढ़ायेगा, और अन्य शासकों को प्रेरणा भी देगा।” और सम्राट ने मगध के शासक को सम्मानित कर शासक के आदर्शों की नई दृष्टि दी।



संत का मूल्य

संत राष्ट्र के नहीं, मानव जाति के गौरव स्तंभ होते हैं। महान जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी के शब्दों में—

जे पवरा होंति मुणि, ते पवरा पुंडरीया उ ।^१

अध्यात्म के मूर्तिमंत रूप संतजन विश्व में सर्वश्रेष्ठ पुंडरीक कमल हैं।

संतों की सद्गुण सुरभि से समस्त मानव जाति अनुप्रीणित होती है, उनकी आध्यात्मिक थाती विश्व की सर्वश्रेष्ठ संपत्ति है। संत का मूल्य विशाल-साम्राज्य से भी बढ़कर है।

ईरान के इतिहास में एक गौरव गाथा आज भी कोहे-नूर की भांति अपनी उज्ज्वल आभा से दीप्त हो रही है।

तुर्कों और ईरानियों के बीच पीढ़ियों से संघर्ष चला आ रहा था। एकबार दोनों में भीषण युद्ध हुआ। तुर्क

१. उत्तराध्ययन नि० २५।३१-३२

पराजित होकर पीछे हटते जा रहे थे। एक दिन प्रसिद्ध सूफी-संत फरीदुद्दीन अत्तार तुर्की के चंगुल में फंस गये। और तुर्की ने उनपर जासूसी का आरोप लगाकर मौत की सजा सुनादी।

ईरान में इस खबर से हलचल मच गई। एक धनिक ने तुर्की को संत के तौल के बराबर हीरे दे दिए। कईओं ने अपने प्राण भी दे दिए, पर तुर्की सुलतान ने संत अत्तार को नहीं छोड़ा।

एक दिन ईरान का बादशाह स्वयं दुश्मन सुलतान के द्वार पर पहुँचा, और बोला— 'जिस राज्य के लिए आपकी कई पीढ़ियाँ हमसे निरंतर लड़ती आ रही हैं, और वह आपको नहीं मिल रहा है, वही राज्य आप हमसे ले लीजिए और अत्तार को छोड़ दीजिए। धन नश्वर है, राज्य भी नश्वर है, किंतु संत अविनाशी है, संत अत्तार को खोकर ईरान हमेशा के लिए कलंकित हो जायेगा।'

बादशाह के आग्रह ने तुर्की में सद्बुद्धि जगाई, अत्तार को मुक्त किया गया। ●

सत्यनिष्ठा

ग्रीक दर्शन के आदिपुरुष सुकरात से किसी ने पूछा—“जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए गुणों की आवश्यकता है।”

सुकरात ने कहा—“बुद्धि और श्रम इन दो गुणों की।” “और महान बनने के लिए?”

केवल एक गुण—‘सत्यनिष्ठा’ की”

सचमुच सत्य ही मनुष्य को महान बनाता है। अथर्ववेद में कहा है—सत्येनोर्ध्वस्तपति^१—मनुष्य सत्य से ऊपर तपता है, संसार पर सूर्य की तरह छत्र बनकर रहता है।

जिस जीवन में सत्य के संस्कार होते हैं, वह जीवन बट वृक्ष की भांति हमेशा फलता-फूलता जाता है।

१. अथर्ववेद १०।८।१६

दृढ संकल्पी-राष्ट्रनेता गोपाल कृष्ण गोखले के बचपन का एक प्रसंग है। गोखले बालक थे। स्कूल में एक दिन अध्यापक ने अंकगणित के कुछ कठिन प्रश्न विद्यार्थियों को घर पर करने के लिए दिए।

“भाई, क्या करूँ ? मुझे तो यह सवाल नहीं सूझ रहे हैं, तुम कुछ मेरी सहायता करो।”—गोखले ने अपने मित्र विद्यार्थी से कहा, और उसके सहयोग से उसने प्रश्न हल कर लिए।

“सभी विद्यार्थियों में गोखले के उत्तर सही हैं—यह विद्यार्थी बहुत अच्छा है”—अध्यापक ने कापियां जांचने के बाद गोखले की पीठ थप-थपाकर एक पुरस्कार देते हुए कहा—

किंतु गोखले तो सुबक-सुबक रोने लगा। अध्यापक ने पूछा—“रोते क्यों हो ?”

“मैंने आज आपको धोखा दिया है, मुझे इसकी सजा मिलनी चाहिए, पर आप मुझे पुरस्कार दे रहे हैं ?”—गोखले ने कहा।

“धोखा ? कैसा धोखा ?”—आश्चर्य-पूर्वक अध्यापक ने पूछा।

ये गणित के प्रश्न मैंने अपनी बुद्धि से नहीं, किंतु अपने मित्र की सहायता से हल किए हैं, और आपने मेरी बुद्धिमानी समझी है, गुरुजी ! यह कितना बड़ा धोखा होगया”—बालक गोखले फिर रोने लग गया।

शिक्षक ने गोखले को हाथों में उठा लिया—“कितने सच्चे हो तुम ! अब यह पुरस्कार मैं तुम्हारी सत्य-प्रियता के लिए देता हूँ । एक दिन तुम देश के महान नेता बनोगे ।” अध्यापक की वाणी सत्य सिद्ध हुई और गोखले अपनी सत्यनिष्ठा के लिए राष्ट्र के जीवन में एक अपूर्व उदाहरण बन गए । ●

सम्मान किसमें ?

हीरे की महत्ता सोने-चाँदी की डिबिया में नहीं, उसकी तेजस्विता में है। सत्पुरुषों की महत्ता उनके पद या सन्मान में नहीं, किन्तु उनके दिव्य मानवीय गुणों से है।

महाकारुणिक बुद्ध ने कहा है—

परस्स चे बंभयितेन हीनो,
न कोचि धम्मेषु विसेसि अस्स ।

यदि दूसरों की ओर से अवज्ञा या अपमान करने से कोई धर्म, कोई सद्गुण हीन हो जाये तो फिर संसार में कोई भी धर्म और गुण श्रेष्ठ नहीं रह सकेगा।

संस्कृत के महाकाव्य किरातार्जुनीय में कहा है—

गुरुतां नयन्ति हि गुणाः, न संहतिः

गुण ही मनुष्य को महान् बनाते हैं, संख्या पद और आडम्बर नहीं ।

यूनान के राज इतिहास की घटना है। एक बार सिकन्दर ने अपने सेनापति के स्वाभिमानी स्वभाव से रुष्ट होकर उसे पदच्युत कर छोटा सूबेदार बना दिया था ।

कुछ दिनों बाद सूबेदार किसी कार्यवश सिकन्दर के समक्ष उपस्थित हुआ। सिकन्दर ने सूबेदार को घूरकर देखा, और पूछा—“मैं तुम्हारे चेहरे पर वही प्रसन्नता देख रहा हूँ जो सेनापति पद के समय थी ; क्या तुम सचमुच पहले जैसे ही प्रसन्न हो ?”

सूबेदार ने सिर झुकाकर कहा—“श्रीमान् ! मैं तो पहले से अधिक सुखी हूँ। पहले ऊँचे पद के कारण अनेक लोग मुझसे डरते रहते थे। मिलने में संकोच करते थे। पर अब वे मुझसे बड़े प्रेम से मिलते हैं, एक साथी की तरह मेरा आदर करते हैं, मुझे अब सेवा का अवसर भी अधिक मिल रहा है, और सब के स्नेह का दान भी।”

“क्या, पदच्युत होने में तुम्हें कोई अपमान नहीं लगा”—सिकन्दर ने पूछा ।

“महाराज ! अपमान कैसा ? आप सम्मान पद में मानते हैं, और मैं मानवता में। ऊँचा पद पाकर भी यदि कोई जनता को सतावे, जुर्म करे, और अहंकार के नशे में झुक जाये तो क्या वह सम्मान पा सकेगा ? सम्मान

तो दूसरों की सेवा करने में, कर्तव्य पालन करने में, और ईमानदारी में है”-सूबेदार ने निर्भीक होकर सम्राट से कहा ।

“तुम सूबेदार बनकर सेनापति से ऊँचे रहे हो, मैंने तुम्हें समझने में भूल की, आज से तुम फिर सेनापति पद को अलंकृत करो ।”—सिकन्दर ने क्षमा के स्वर में सूबेदार का हाथ पकड़ कर कहा । ●

कच्ची रोटी

रंग-रूप के आधार पर ऊँच-नीच की कल्पना—मनुष्य के अज्ञान का प्रतीक है। जाति के आधार पर गौरव और बड़प्पन की भावना—मिथ्या अहंकार का सूचक है।

भगवान महावीर ने कहा है—

से असइं उच्चा गोए, असइं नीयागोए
नो हीणे, नो अइरित्ते ।

यह आत्मा अनेक बार नीच योनि में जन्म ले चुका है और अनेक बार ऊँच कहे जाने वाले गोत्रों में, फिर जबकि विभिन्न गोत्र व योनियों में यह भ्रमण कर चुका है तो क्या तो हीन हुआ ? और क्या बड़ा ?

शुद्धाद्वैत की दृष्टि से तो जो आत्मा एक काले मनुष्य में है, वही एक गोरे मनुष्य में है। जो आत्मा मनुष्य में है वही एक कुत्ते में और वही एक कीड़े में !

फिर मनुष्य किससे घृणा करता है और किस बात पर अहंकार ?

किंतु लगता है, शास्त्रों का यह तत्त्वज्ञान, महापुरुषों का सद्बोध मनुष्य ने केवल शब्दों पर थमा रखा है, आज तक उसके हृदय में नहीं उतरा है। काले-गोरे का भेद-भाव, ऊँच-नीच का अहंकार आज भी उसकी नसों में बह रहा है। हां, जब कभी उसके इस मिथ्या अहं पर कोई चोट पड़ती है तो उसे एक बार तिल-मिलाकर अपने भीतर देखने को विवश अवश्य होना पड़ता है।

ब्रिटेन में एक प्रीतिभोज हो रहा था। बड़े-बड़े अंग्रेज उसमें थे, डा० राधाकृष्णन् भी अपने साथियों के साथ निमंत्रित थे। उनके साथियों में कुछ मद्रासी भी थे।

एक शेखीबाज अंग्रेज ने राधाकृष्णन् की ओर देख कर कहा—“अंग्रेज जाति ईश्वर की सबसे प्यारी जाति है, हमारा निर्माण ईश्वर ने बड़े यत्न व स्नेह से किया है, तभी तो हम इतने गोरे हैं।”

अंग्रेज की गर्वोक्ति पर डा० राधाकृष्णन् मुस्कराये, और फिर उपास्थित मित्रों को सम्बोधित करते हुए बोले—मित्रो ! एक बार भगवान को रोटी पकाने की इच्छा हुई। वे रोटी सेकने बैठे, पर रोटी कम सिकी, कच्ची रह गई ! भगवान ने दूसरी रोटी बनाई, उसे सैकने बैठे तो वह कछ जयादा सिक गई। भगवान ने

तीसरी रोटी ली, और उसे बड़े यत्नपूर्वक सेकने लगे, वह न ज्यादा सिकी और न कम, बिल्कुल ठीक सिकी। अब पहली रोटी से जिस जाति का जन्म हुआ, वह थी अंग्रेज जाति। दूसरी रोटी से नीग्रो जाति की पैदाईश हुई, और तीसरी रोटी से भारतीयों का जन्म हुआ।”

अंग्रेज महाशय की जाति गर्व-स्फीत आंखें नीची झुक गईं, श्रोताओं में चारों ओर उन्मुक्त हंसी फूट पड़ी।



बड़ों का क्रोध

संत पुरुष कभी क्रोध नहीं करते । यदि किसी प्रसंग पर क्रोध आ भी जाता है तो वे उसे तत्क्षण मिटा देते हैं, जैसे बालू मिट्टी पर खिंची हुई रेखा । तथागत बुद्ध ने कहा है—जो ज्ञानी हैं, विवेक से जिसका अन्तःकरण प्रकाशमान है, नीति और व्यवहार का जिसे परिज्ञान है वह व्यक्ति बड़े हुए क्रोध को शान्ति से यों समाप्त कर देता है, जैसे देह में फैले हुए सर्प विष को औषधि से तुरंत उतार दिया जाता है—

यो उप्पत्तितं विनेति कोधं,
विसठं सप्पविसं व ओसधेहि ।’

विवेकी पुरुष के इस प्रकार के क्रोध को जैन सूत्रों में ‘संज्वलन क्रोध’ कहा है— जो बालू मिट्टी के ढेर पर खिंची हुई रेखा के समान विचार-चित्तन के सामान्य प्रयत्न से ही शीघ्र समाप्त हो जाता है ।

१. सुत्तनिपात १।१।१

वास्तव में जो विवेकवान, नीतिज्ञ तथा बड़े कहे जाते हैं, वे कभी अपने क्रोध की गांठ नहीं लगाते। एक क्षण में उनका मुख क्रोध से लाल होकर तमतमाता दिखाई पड़ता, है तो दूसरे ही क्षण कमल-सा खिलता हुआ प्रसन्न। यही तो उनके बड़ा बनने का गुण है।

नेहरू जी एक का संस्मरण है। एकबार वे लखनऊ की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देने के लिए मंच पर खड़े हुए। श्रोताओं में कुछ व्यक्तियों ने गड़बड़ की, सभा की व्यवस्था बिगड़ गई। नेहरूजी ने शांत होने के लिए बार-बार कहा, पर भीड़ पर कोई असर नहीं हुआ। नेहरूजी बहुत शीघ्र क्रुद्ध हो जाते थे। वे अशांत भीड़ पर भपटे। अंगरक्षकों ने उन्हें पकड़ा। उनका चेहरा तमतमा गया, वे घूसों से अंगरक्षकों पर भी प्रहार करने लगे— छूटने की चेष्टा में।

कुछ ही देर में भीड़ पर पुलिस ने काबू पा लिया, सभा में शांति छा गयी। नेहरूजी का गुस्सा भी उतर गया। वे हंसते हुए मंच पर चढ़े। पास में बैठे टंडनजी और पंतजी से बोले—“देखी, आपने मेरी कुश्ती?” और चारों ओर हंसी के फुवारे छूट गये। ●

अपवित्र

क्षमा जैसी कोई पवित्र वस्तु नहीं है, और क्रोध जैसी दिगी और कोई नहीं है। मनुष्य का अन्तःकरण जो रम पवित्र भगवद्मंदिर है, क्रोध से कलुषित होने पर मशान की भांति अपवित्र राक्षसों का क्रीड़ास्थल बन जाता है।

कन्नड़ साहित्य में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार रामानन्द नाम के एक महान् विद्वान् शास्त्रार्थ को नेकले ! अपनी अद्वितीय विद्वत्ता का प्रभाव जमाते हुए उन्होंने दूर-दूर तक के विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपना शिष्य बनाया था।

दिग्विजय के उल्लास में स्वयं को भूले हुए पंडित रामानन्द एक बार कावेरी-तट पर भगवान्-भास्कर को अर्ध्य चढ़ा रहे थे। संयोगवश तट पर कुछ ही दूर एक वमार चमड़ा धो रहा था। उसके छींटे रामानन्द पर गेर गए।

ज्ञान गर्व-स्फीत आचार्य की आंखों में क्रोध की अग्नि भड़क उठी, क्रोधोन्मत्त वाणी में बोले—“अधम ! नीच ! नाश हो तेरा । मुझे अपवित्र कर दिया, फिर से स्नान करना पड़ेगा मुझे ।”

सौम्य व्यंग्य के साथ चमार ने उत्तर दिया—“प्रभो ! अपराध क्षमा हो, स्नान तो मुझे करना पड़ेगा ।”

आचार्य की मौन आँखें चमार को घूर रही थीं ।

“चमड़े के छींटे से चमड़ा अपवित्र नहीं होता भगवन् । किंतु क्रोध जो अपवित्रों में भी अपवित्र है, उसके गंदे छींटे मुझ पर जो पड़े हैं,”—चमार की तत्त्व-बोधिनी वाणी ने आचार्य रामानंद के ज्ञान गर्व को चूर-चूर कर दिया । वे अपने ही अन्तःकरण की कलुष-कालिमा को धोने अब चुपचाप शांति के शीतल सरोवर में गहरे उतर कर विनत भाव से क्षमा मांग रहे थे—चमार के समक्ष !

मारने वाला

क्षमा करना भी एक कला है, एक अद्भुत विजय है। गर्म लोहा ठंडे लोहे से कटता है, क्रोध शांति से पराजित होता है, भय अभय से जीता जाता है।

तथागत बुद्ध ने कहा है—

जयं चेवस्स ते होति यो तित्तिक्खा विजानतो ।^१

संसार में विजय उसीकी होती है, जो क्षमा करना जानता है। जिसे सहन करना आता है वह सर्वत्र सिंह की तरह निर्भय रहता है। क्षमावीर अहिंसक के लिए कहा गया है—

सीहो व सद्देण न संतसेज्जा^२

सिंह जैसे कायर भेड़ियों, व जंगली जानवरों की आवाजों से नहीं डरता, क्षमाशील उसी प्रकार हिंसक

१. संयुत्तनिकाय १।७।३

२. उत्तराध्ययन २।१।४

क्रूर व क्रोधी व्यक्तियों के शब्दों से, धमकियों से कभी संत्रस्त नहीं होता। सहिष्णुता का बल ही उसे सर्वत्र निर्भय बनाए रखता है।

बात तब की है, जब विहार के चम्पारन जिले में गांधी जी ने सत्याग्रह किया था। एक बौखलाए हुए अंग्रेज साहब ने घोषणा की—“अगर गांधी मुझे कहीं मिल जाये तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ।”

गांधीजी को अंग्रेज की इस गीदड़-गर्जना का पता चला, दूसरे दिन सबेरे ही वे उस अंग्रेज के बंगले पर अकेले पहुँचे। अंग्रेज को सोते से जगाकर कहा—“मैं गांधी हूँ, आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की, इसीलिए मैं अकेला यहाँ चला आया हूँ ताकि आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो सके।”

गांधीजी की निर्भय मुखमुद्रा पर चमकते तेजस्वी नेत्रों में झांकने का साहस उसे नहीं हुआ। वह गांधीजी के चरणों में झुकगया—“गांधी को भगवान भी नहीं मार सकता।”

गांधी जी की क्षमा एवं अभय साधना ने मारने वाले को भी परम भक्त बना दिया। ●

दुनियां का मालिक

भगवान महावीर ने कहा है—

अप्पाहारस्स दंतस्स देवा दंसंति ताइणो ।^१

जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रियों का विजेता है, समस्त प्राणी जगत के प्रति मैत्री-करुणा का अक्षय-अमृत स्रोत बहाता है, उसके दर्शनों के लिए देव एवं देवेन्द्र भी आतुर रहते हैं ।

वास्तव में जिसने अपने पर विजय प्राप्त करली, अपनी वासनाओं को खत्म कर दिया, संसार में उससे बढ़कर सुखी, तथा विजयी कौन है ?

कबीरदासजी ने कहा है—

चाह मिटी, चिंता घटी, मनवा वे परवाह ।

जिनको कछु चहिए नहीं, सो शाहन का शाह ॥

जिसे किसी की चाह नहीं, उसे चिंता भी नहीं, वह संसार का सबसे बड़ा बादशाह है ।

१. दशाश्रुतस्कंध ५।४

कहते हैं, एक बार सिकन्दर भारत में हिमालय की तराई में एक जंगल को पार कर रहा था। उसने देखा कि पहाड़ी के ऊपर एक साधु बैठा है। उस साधु ने सिकंदर की तरफ आंख उठाई और फिर पलकें मूंद कर बैठ गया। सिकंदर को रोष आया—“यह साधु कैसा है? जिसने मुझे न सलाम किया, न उठकर खड़ा हुआ!” सिकंदर साधु के पास आया, और पूछा—“तू कौन है?”

साधु ने कहा—“मैं दुनियां का मालिक हूँ।”

सिकंदर ने कहा—“तू कैसा दुनियां का मालिक है? तेरे पास न सेना है, न धन दौलत है, तेरे वदन पर तो पूरे कपड़े भी नहीं? दुनियां का मालिक तो मैं हूँ सिकंदर; जानता नहीं तू मुझे?”

साधु ने आँखें मूंदे ही जवाब दिया—“मैं तो तुझे जानता ही नहीं, फिर तू कैसे दुनिया का मालिक बना?”

साधु की बात का सिकंदर के पास कोई जवाब नहीं था। ●

दान और विनम्रता

नम्रता—जीवन की परिपक्वदशा है, धन, बल, विद्या, जब तक पच नहीं जाते तब तक मनुष्य अहंकार के रोग से ग्रस्त होता है, किन्तु जब वे हजम हो जाते हैं तो वे ही मनुष्य को विनम्र बना देते हैं ।

महाकवि कालिदास ने कहा है—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै
नंवाम्बुभि र्भूरि विलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषा समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

फलों का नवीन मधुर भार पाकर वृक्ष नीचे झुक जाते हैं, मधुर जल से भरकर जलधर धरती पर झुक आते हैं, और धन-समृद्धि पाकर सत्पुरुष अधिक विनम्र और सरल हो जाते हैं—यह उनका परोपकार-परायण सहज स्वभाव है ।

विनम्रता के सम्बन्ध में कलकत्ता के भूदेव मुखोपाध्याय की जीवन घटना एक आदर्श की ओर इंगित करती है—

भूदेव मुखोपाध्याय ने अपने पिता श्री विश्वनाथ तर्कभूषण की स्मृति में एक लाख साठ हजार की संपत्ति दान करके 'विश्वनाथ फंड' की स्थापना की थी ।

इस फंड से देश के प्रसिद्ध सदाचारी विद्वानों को विना किसी प्रार्थना व अपील के घर बैठे पचास रुपए मासिक की सहायता भेजी जाती थी । किसी भी विद्वान् को इस सहायता के लिए कभी किसी प्रकार की प्रार्थना की अपेक्षा नहीं थी ।

एक बार फंड के प्रथम वर्ष की वृत्तियों का विवरण एजुकेशनल गजट में प्रकाशित करने भेजा जा रहा था । कर्मचारी ने सूची बनाई—“इस वर्ष जिन-जिन अध्यापकों एवं विद्वानों को विश्वनाथवृत्ति दी गई, उनकी नामावली ।”

भूदेव बाबू ने जब सूची देखी तो कर्मचारी पर अप्रसन्न होकर बोले—यह क्या लिखमारा ? इसे यों लिखिए”-

“इस वर्ष जिन-जिन अध्यापकों एवं विद्वानों ने विश्वनाथ वृत्ति स्वीकार करने की कृपा की उनकी नामावली ।”

प्रज्ञाहीनता

प्रज्ञा, श्रद्धा की कसौटी है, और श्रद्धा प्रज्ञा की पृष्ठभूमि।

जीवन में जितना स्थान बुद्धि को दिया जाता है उतना ही श्रद्धा को भी, और श्रद्धा के समान ही बुद्धि को भी !

आरण्यक में कहा है—

प्रज्ञा पूर्वरूपं, श्रद्धोत्तररूपं ।^१

प्रज्ञा—बुद्धि पूर्वरूप है, और श्रद्धा उत्तर रूप !

शास्त्रों में जहाँ कहा है—सद्धा परम दुल्लहा—^२ श्रद्धा परम दुर्लभ है, वहाँ—पन्ना समिक्खए धम्मं^३— प्रज्ञा से धर्म की परीक्षा करो—के विवेक वचन भी हैं ।

जहाँ श्रद्धा में बुद्धि का प्रकाश न हो, वहाँ श्रद्धा जड़-आग्रह, अंधविश्वास के मलिन-आवरण में अस्पृश्या-सी रह जाती है ।

१. शांख्यायन आरण्यक ७।१८, २. उत्तराध्ययन ३, ३. उत्तराध्ययन २३

विवेक-विचार-हीन जड़विश्वास कितना निर्बल व मूर्खता पूर्ण सिद्ध होता है इसका एक उदाहरण इस घटना में मिलता है—

अरब में जब सर्वप्रथम बादशाह इब्नसऊद के लिए टेलीफोन लगाए जा रहे थे, तो वहां के मुल्ला-मौलवियों ने इसका जोरदार विरोध किया। उन्होंने कहा—“इस में जरूर किसी शैतान का हाथ है, वरना यह कैसे संभव है कि एक दूसरे का चेहरा बिना देखते हुए भी लोग एक दूसरे से बातचीत कर लें।”

अरब ठहरा मुल्लाओं का देश ! बादशाह उनकी बात को कैसे टाले ? आखिर बृद्धिमान लोगों ने फसला किया—“अगर सचमुच ही टेलीफोन के तारों में किसी शैतान का निवास है तो, निश्चित ही कुरान की पवित्र आयतें उन तारों से होकर नहीं गुजर सकेगी, अर्थात् टेलीफोन पर उन आयतों को सुना नहीं जा सकेगा, अतः एक व्यक्ति महल में टेलीफोन पर बैठे और दूसरा टेलीफोन एक्सचेंज में बैठकर आयतें बोलें।”

जब टेलीफोन पर कुरान की आयतें सुनाई पड़ी तो मुल्लाओं को यह विश्वास हुआ कि सचमुच ही इसमें शैतान का कोई करिश्मा नहीं है। ●

सत्संग का प्रभाव

सीप के मुंह में गिरी हुई ओस की बूंद-मोती बन जाती है, कमल के पत्तों पर टिकी एक शबनम-सूर्य की किरणों में हीरक कणी-सी चमक उठती है—वैसे ही सत्पुरुष के संग में रहा हुआ एक दुर्जन भी सज्जनता के अलंकार से विभूषित हो उठता है।

जैननीति के मर्मज्ञ सूत्र-शिल्पी आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—“महद्भिः सुप्रतिष्ठितोऽश्माऽपि भवति देवता—”^१

महान् पुरुषों के हाथों से प्रतिष्ठित होकर पत्थर भी देवत्व को प्राप्त हो जाता है। हवा के परों पर बैठा लघु रजकण क्या आकाश में नहीं चढ़ जाता? संत कवि तुलसी दासजी की भाषा में—

गगन चढहि रज पवन प्रसंगा ।

१. नीतिवाक्यामृत

इसी शाश्वत-पारिणामिक-मनोविज्ञान का सिद्धान्त आचार्य शय्यंभव ने यों व्यक्त किया है—

कुज्जा साहूहिं संधवं^१

सत्पुरुषों का ही संसर्ग करना चाहिए। वही मानव को श्रेष्ठता की सीढ़ियों पर अग्रसर कर महामानव की कोटि में पहुँचाता है।

स्वामी विवेकानंद के जीवन का एक मधुर प्रसंग श्रीमती केलमे ने (आत्म कथा में) उद्धृत किया है। स्वामी विवेकानंद एक बार मिस्र के काहिरा शहर में घूमते हुए रास्ता भूल गये थे। भटकते-भटकते वे वेश्याओं के गंदे मोहल्ले में पहुँच गये। वेश्याओं ने ग्राहक समझ, संकेत से स्वामीजी को ऊपर बुला लिया। मानव के अन्तर में अनन्त पवित्र-ऐश्वर्य का दर्शन करने वाले स्वामी जी निस्संकोच ऊपर पहुँच गये।

स्वामीजी की तेजोदीप्त आंखों में करुणा छलक उठी। रुद्ध कंठ से अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने कहा—“ये ईश्वर की हतभाग्य संतानें हैं। शैतान की उपासना में अपने अन्तर्यामी भगवान को भूल गई हैं।”

स्वामी जी की करुणा-विह्वल भाव मुद्रा ने वेश्याओं के अन्तःकरण की अन्धतमिस्रा में दिव्यता की मंजूल किरण जागृत कर दी।

एक सप्ताह बाद ही उस मोहल्ले की वेश्याओं ने अपनी दुर्वृत्तियों को तिलाञ्जलि देकर अपनी संपत्ति से उस गंदी गली को एक सुन्दर सड़क के रूप में परिणत कर दिया । और शीघ्र ही वहां एक पार्क, एक मठ और एक महिलाश्रम निर्मित हो गया । ●

मुक्ति के लिए....

किसी विद्वान् से पूछा गया—

—“सज्जन और दुर्जन की क्या पहचान है ?”

उत्तर में विद्वान् ने सामने खड़े एक फल-फूलों से लदे विशाल वृक्ष की ओर संकेत किया—देखते हो, मधुर फलों के लिए वृक्ष पर कुछ लोग पत्थर व ढाले फेंक रहे हैं, और वृक्ष बदले में क्या देता है ?

मधुर फल !

“बस, यही सज्जन का स्वभाव है ।”

और देखो, तलैया के किनारे कुछ कीचड़-सा है, कुछ बालक उसमें भी पत्थर फेंक रहे हैं, और कीचड़ में पत्थर फेंकने वालों को क्या मिलता है ?

गंदे छींटे !

बस, यही दुर्जन का स्वभाव है !

भगवान महावीर ने कहा है—महृप्पसाया इसिणो ह्वंति—ऋषिजन, सत्पुरुष महान्—प्रसन्नचित्त वाले होते हैं, अपमान, घृणा व वैमनस्य का जहर उगलने वाले विषधर को भी वे करुणा, स्नेह एवं मुक्ति का दूध पिलाते हैं ।

ऋग्वेदीय सूक्त है—

नावाजिनं वाजिना हासयंति,
न गर्दभं पुरो अश्वान् नयंति ।^१

ज्ञानी पुरुष अज्ञानी के साथ स्पर्धा करके अपना उपहास नहीं कराते, अश्व के सम्मुख तुलना के लिए क्या कभी गदहा लाया जा सकता है ?

इस भाव की मार्मिकता स्पष्ट करने वाला एक उदाहरण है—स्वामी दयानंद सरस्वती के जीवन का ।

एक बार स्वामीजी को अनूपशहर में किसी व्यक्ति ने पान में विष दे दिया । यह बात जब लोगों में फैली तो आक्रोश की आग भड़क उठी । वहां के तहसीलदार सैय्यद मुहम्मद जो स्वामी जी के भक्त भी थे, अपराधी को पकड़ कर स्वामी जी के समक्ष उपस्थित किया और

कहा—“आप आज्ञा करिए, इसे क्या कठोरतम दण्ड दिया जाय ?”

स्वामी दयानंद जी कुछ गंभीर होकर बोले—“इसे मुक्त करदो, मैं संसार में लोगों को कैद कराने नहीं, अपितु छुड़ाने के लिए आया हूँ ।” ●

कर्तव्य बोध

संस्कृत-भारती के रससिद्ध कवि पंडितराज जगन्नाथ की एक सूक्ति है—

दोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव
काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या ।”^१

निर्मल बुद्धि से, कर्तव्य एवं हित की भावना से किया गया रोष भी रमणीय होता है, जैसे कि केसर की कटुता भी मनभावनी लगती है ।

पंडितराज के इसी स्वर को अभिव्यक्ति दी है, वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार उव्वट ने—

“संस्कारो ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च
पुनःपुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवति ।”^२

१. भामिनीविलास ६६

२. यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य १।२१

संस्कारों—सभ्यता एवं सदाचार को उद्दीप्त करने के लिए हित और पथ्य का यदि बार-बार उपदेश दिया जाता है तो उसमें कोई दोष नहीं है ।

किन्तु यह कर्तव्यबुद्धि उसी में जागृत होती है, जो स्वयं अपने कर्तव्य को समझता हो, और दूसरों के द्वारा भले ही वे छोटे हों, कर्तव्य का बोध दिए जाने पर उसका स्वागत करता हो ।

महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में अप्रिय सत्य पथ्य को बोलने वाले दुर्लभ हैं, वैसे ही सुनने वाले और समझने वाले भी दुर्लभ हैं ।

अप्रियस्य च पथ्य स्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।^१

—अप्रिय कर्तव्य व्यवहार को हितकर समझना और उसे आदरपूर्वक स्वीकार करना तभी संभव है, जब उपर्युक्त भावना हमारे मन में जागृत हो । इस कर्तव्य बोध-प्रेरक भावना को उद्दीप्त करने वाला एक प्रेरक संस्मरण है सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी पं० बनारसीदास जी का ।

पं० बनारसीदास जी अपने तलस्पर्शी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के लिए ही नहीं, किन्तु नीति, कर्तव्यनिष्ठा एवं उच्चस्तरीय राजभक्ति के लिए भी प्रसिद्ध थे । तत्कालीन राजदरबार में उनका बहुत सम्मान था ।

एक बार वे घर से दरबार में जा रहे थे, रास्ते में शीघ्रता-वश लघुनीत करने बैठ गए। दरबार के पहरेदार ने कोई ऐर-गैर आदमी समझकर एक चपत लगाकर रास्ते में लघुनीत करने के लिए डांट दिया।

बनारसीदास जी ने चुपचाप सिपाही की ओर देखा, उसके नम्बर नोट किए और आगे चल दिए। दरबार में पहुँचकर उन्होंने अमुक नंबर के सिपाही को बुलाने के लिए महाराज से निवेदन किया।

सिपाही दरबार में आया। बनारसीदास जी को उच्च आसन पर बैठे देखकर उसकी सिटीपिटीगुम हो गई। सोचा—“यह तो वही आदमी है जिसे अभी-अभी मैंने डांट कर तमाचा मारा था। अब क्या होगा ?”

“सिपाही ! डरो मत ! तुम्हें कितना वेतन मिलता है ?—तभी बनारसीदास जी ने आश्वासन के स्वर में पूछा।

“जी ! दस रुपये !” कांपते हुए सिपाही ने उत्तर दिया।

“महाराज ! आज से इसके वेतन में दो रुपए और बढ़ाने की कृपा करें !” बनारसीदास जी ने महाराज से निवेदन किया।

महाराज स्मितपूर्वक प्रश्न भरी नजर से बनारसीदास जी की ओर देखने लगे। बनारसीदास जी ने स्थिति

को स्पष्ट करते हुए कहा—“महाराज ! इसने मुझे अपने कर्तव्य का बोध दिया है, सभ्यता के नियमों के पालन की शिक्षा दी है। अपने कर्तव्य पालन में यह बहुत ही ईमानदार और बहादुर है, राज्य में ऐसे सिपाहियों का सम्मान बढ़ना ही चाहिए।” ●

सम्मान

नीतिशास्त्र के कुशल शब्द-शिल्पी आचार्यसोमदेव सूरि ने कहा है—

“देवाकारोपेतः पाषाणोऽपिनावमन्येत किं पुनर्मनुष्यः ।”^१

देवता के आकार में प्रतिष्ठित प्रस्तर का भी अपमान नहीं करना चाहिए, तो फिर मनुष्य तो सजीव देवता है, उसका अपमान क्योंकर करें ?”

वस्तुतः हर एक प्राणी में चैतन्य देवता विराजमान है, छोटे-बड़े की कल्पना से उसका अपमान करना—उस चैतन्य देव का अपमान है। रूप, जाति, धन, विद्या और पद तो मनुष्य का बाह्य रूप है, इनके गर्व से दीप्त हो अपने से छोटे का अपमान करना, स्वयं अपमान करने वाले की मूर्खता का उद्घोष करता है। महामानव महावीर के शब्दों में—“अन्नं जणं खिसई बाल पन्न”^२—

१. नीतिवाक्यामृत ७।२६

२. सूत्रकृतांग १।१३।१४

“दूसरों की अवज्ञा करना स्वयं मनुष्य की अपनी ही मूर्खता का द्योतक है।”

इसी बात की प्रतिध्वनि ‘वाशिंगटन पोस्ट’ में प्रकाशित इस संस्मरण से मिल रही है।

जार्ज वाशिंगटन एक बार अपने मित्रों व अन्य उच्च पदाधिकारियों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में सामने से एक हब्शी आ रहा था। उसने वाशिंगटन को देखते ही अपनी टोपी उतार कर उनका अभिवादन किया। वाशिंगटन ने भी अपना हैट उतार कर अभिवादन का उत्तर दिया।

वाशिंगटन के मित्रों ने जरा रुष्ट होकर कहा—
“आप भी अच्छे आदमी हैं, जो एक काले आदमी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं।”

वाशिंगटन ने कुछ मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया—
“मित्रो ! क्या यह उचित था कि उस बेचारे अशिक्षित हब्शी ने मेरे प्रति इतनी सभ्यता दिखलाई, तो क्या मैं उसके सामने अशिक्षित-असभ्य का-सा बर्ताव करके अपने को ओछा सिद्ध करता.....।”

सफलता का नुस्खा

संसार में कोई भी प्राणी क्षणभर के लिए भी अकर्म-क्रिया शून्य नहीं रहता ।

—“नहिं कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।”

किंतु कर्म करके भी कुछ सफल होते हैं, और बहुत से असफलता की चक्की में ही पिसते रहते हैं !

जिसे अपने कर्म में, कर्तव्य में आनन्द एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है, और जो बिना किसी शोरगुल के चुपचाप अपना कर्तव्य पूर्ण किये जाता है—कार्य की सफलता उसके चरण चूमती है ।

कर्तव्य में यदि आनन्द न आये, तो वह भार हो जाता है और मनुष्य की आत्मा को दबा देता है ।

कर्म के साथ यदि वाचालता हो, तो मनुष्य की कार्य-शक्ति का महत्वपूर्ण अंश व्यर्थ ही क्षीण हो जाता है ।

शक्ति का चतुर्थ भाग केवल बहुत बोलने से ही नष्ट हो जाता है। यही संकेत प्रज्ञापुरुष महावीर ने दिया है— 'नाइवेलं वएज्जा'^१— आवश्यकता से अधिक नहीं बोलना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान का पिता आइंस्टीन एक बार कोलंबियो यूनिवर्सिटी में दीक्षांत भाषण दे रहे थे। भाषण के पश्चात् छात्रों ने पूछा—“कृपया, हमें जीवन में सफलता प्राप्त करने का कोई सीधा-सा नुस्खा बतलाइये।”

आइंस्टीन ने मुस्कराकर कहा—

$$A = X + Y + Z$$

अर्थात् A = सफलता, X = काम, Y = मनोरंजन, Z = मान-श्रम, मनोरंजन (आनन्दानुभूति) और मौन— यही सफलता का सरल नुस्खा है।”

छात्रों ने पूछा—“मौन का क्या मतलब है?”

आइंस्टीन ने उत्तर दिया—“मेरे कोष में मौन का अर्थ है जितना जरूरी हो उससे भी कम बोलना।”

वस्तुतः सफलता तभी प्राप्त होती है जब कर्म में आनन्द की अनुभूति हो, और वह मौन भाव के साथ किया जाय।”

उदार दृष्टि

भारतीय साहित्य के आदिस्रोत ऋग्वेद में एक प्रार्थना है—

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम;
भद्रं पश्यैमाक्षिभिर्यजन्वाः ।^१

हम कानों से सदा कल्याणकारी सुन्दर बचन सुनते रहें, हम आँखों से सदा सबके कल्याणकारी शोभन दृश्य देखते रहें ।

मनुष्य के मन की यह उदात्त-भावना है, जो उदारता, गुणानुरागिता और कृतज्ञता के फलों के रूप में पुष्पित-फलित होती रहती है ।

मन से सबका सुन्दर चाहना, कानों से सबकी भलाई सुनना और आँखों से सबकी अच्छाई देखना

१. ऋग्वेद १।५१।८

जीवन का दिव्य रूप है। यही भगवान महावीर का 'सर्व मैत्रिवाद' है, यही गांधी का सर्वोदय है।

अपने उदय के साथ दूसरों के उदय की कामना मानवजीवन की विराट ईश्वरीय दृष्टि है। और इस दृष्टि में दिव्यता तब और भी चमत्कृत हो उठती है, जब वह अपने से लघुतम प्राणियों के अभ्युदय एवं उन्नति में भी सचेष्ट हो उठती है।

मानवीय चेतना के अमर स्वर-गायक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक रूपक लिखा है।

प्राचीरेर छिद्रे एक नाम गोत्रहीन।
फूटिया छे छोटी फूल अतिशय दीन।
धिक् धिक् करे तारे कानने सबाई।
सूर्य उठि बोले तारे 'भाले' आछो भाई ?

—फटी हुई भीत के छिद्र में एकदिन नाम गोत्र से हीन एक छोटा-सा अतिशय दीन नन्हा कुसुम खिला, तो पास-पड़ोस के अन्य फूल चिल्ला-चिल्लाकर उसे धिक्कारने लगे, उसकी तुच्छता पर व्यंग्य कर बराबर हंसने लगे। परंतु तभी दिनपति सूर्य ने उदित होकर अपनी स्नेह किरण-करों से सहलाते हुए पूछा —“कहो, भाई, अच्छे तो हो न ?”

इसी प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने वाली एक घटना है—प्रसिद्ध चित्रकार टर्नर के जीवन की !

इंग्लैंड में एक बार 'रायल एकाडमी' संस्था की ओर से एक विशाल चित्रप्रदर्शनी का आयोजन किया गया। संसार भर के श्रेष्ठ चित्रकारों के इतने चित्र आये कि हॉल की गैलरी आदि दर्शनीय स्थानों पर चित्र सजाने के बाद भी काफी चित्र बचे रह गये।

“यह चित्र किसका है, बहुत सुन्दर है, यदि हॉल में कहीं भी स्थान खाली होता तो इस चित्र को प्रदर्शनी में अवश्य लगाते, किंतु अफसोस”..—एक सदस्य ने किसी नवोदित चित्रकार के चित्र की ओर संकेत करके कहा।

प्रसिद्ध चित्रकार टर्नर भी उस एकाडमी के सदस्य थे। उन्होंने उक्त प्रस्ताव पर कहा—“यदि वास्तव में चित्र सुन्दर हो, तो लगाना ही चाहिए उसके लिए स्थान तो मिल जायेगा?”

सदस्यों ने आश्चर्यपूर्वक टर्नर की ओर देखा—
“स्थान खाली कहाँ है?”

तभी टर्नर ने अपना एक लगा हुआ चित्र उतारते हुए कहा—“नये कलाकार को अवश्य स्थान मिलना चाहिए। नई कला का आदर और नई प्रतिभा का सम्मान ही कलाकार का धर्म है।”

टर्नर की उदार गुणवृत्ति पर सदस्यों ने तालियाँ पीट कर प्रसन्नता व्यक्त की। ●

विजयध्वज

एक विचारक ने कहा है—

जब मन में दीनता जगे, तो अपने से नीचे देखो, कि संसार में तुम्हारा आसन कितना ऊँचा है।

जब मन में अहंकार की भावना उठे, तो अपने से ऊपर देखो, कि संसार में तुम तो एक नगण्य से मानव हो, जैसे अगाध समुद्र में एक लघु जलकण !

संसार में सब से कम ऐसे ज्ञानी हैं, जिन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है। अज्ञान का ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान का सार है।

एक उर्दू कवि के शब्दों में—

“हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे,
मगर जाना तो यह, कि हमने न जाना कुछ भी।”

जैन साहित्य के मनीषी शब्द-शिल्पी उपाध्याय यशोविजय जी के जीवन का एक प्रसंग है। उपाध्यायजी की भुवनमोहनी विद्वत्ता से न केवल श्रमण परम्परा में ही एक गौरवानुभूति जग रही थी, किंतु अनेक दिग्गज

वैदिक विद्वान् भी उनके चरणों में सश्रद्धा विनत हो गये थे।

उनकी तलस्पर्शी ज्ञान-गरिमा से प्रभावित हो गुजरात के वैदिक विद्वानों ने 'व्याख्यानवाचस्पति' के विरुद्ध से अलंकृत किया था। उपाध्याय जी के मन में अपने पांडित्य तथा प्रतिभा का सूक्ष्म अहंकार जगा। स्थान-स्थान पर प्राप्त वाद-विजय के प्रतीक में उन्होंने अपने आसन के चारों कोनों पर चार झंडियां लगाई थीं।

एक बार उपाध्याय यशोविजयजी देहली में आये। वहां एक वृद्ध महिला ने एक दिन सविनय पूछा—
“महाराज ! आपकी विश्वव्यापि ज्ञान-कीर्ति से मेरा रोम-रोम गर्वित हो रहा है। मैं भी अपने मन की एक छोटी-सी शंका का समाधान चाहती हूँ।”

गुरुजी की स्वीकृति पाकर अत्यंत सरलता के साथ वृद्धा ने पूछा—“गुरुदेव ! आप जैसा ज्ञानी इस धरती पर और कोई हुआ है ? आचार्य भद्रबाहु, स्थूलिभद्र, हरिभद्र, सिद्धसेन क्या कोई आपकी तुलना में आ सकते हैं ?”

गुरु ने हंसकर कहा—“भोली बहन ! कहां वे, कहां मैं, उनके अगाध ज्ञान समुद्र में मैंने एक चिड़िया की चोंच भी नहीं भरी है ?”

—“महाराज ! क्या गौतमस्वामी और सुधर्मा-

स्वामी भी आप जैसे विद्वान हुए हैं ?” —उसी भोलेपन के साथ वृद्धा ने गुरुजी को वंदना कर के पूछा !

“बहन तुम कैसी बातें करती हो ? गौतमस्वामी का ज्ञान, सुधर्मास्वामी की विद्वत्ता सुमेरु के तुल्य है, तो मेरा ज्ञान एक छोटा-सा रजकण ! उनकी क्या समानता ?”

तो गुरुदेव ! आपके आसन पर चार विजयध्वज टंगे रहते हैं, तो गौतमस्वामी आदि के आसन पर कितने भंडे टंगे रहते होंगे ? सौ या हजार ?” वृद्धा की सरल वाणी में वह तीखापन था जो सीधा गुरुजी के ज्ञानगर्वित हृदय को बीध गया ।

वाचक यशोविजयजी के मन पर सहसा एक भटका लगा, ज्ञान गरिमा पर छाये अहं के आवरण सहसा टूट गए और साथ ही तत्क्षण उन्होंने अपने हाथों से आसन की भंडियां उखाड़ कर फेंक दी । ●

सच्चे श्रोता

सुनना भी एक कला है ।

बहुत से लोग केवल कुतूहल एवं आत्म-प्रदर्शन के लिए ही सुनने को जाते हैं । उस सुनने से न कुछ मिलता है, और न समय का सदुपयोग ही होता है ।

श्रोता चाहे कम मिलें, किंतु यदि उनमें सुनने की जिज्ञासा है, तो वे दो चार ही काफी हैं । बादलों को भले ही अच्छे खेत कम मिलें, पर हजार ऊपर खेतों में बरसने से तो दो चार उर्वर खेतों में बरसना अच्छा है ।

भगवान महावीर ने जो कहा है—“सुई धम्मस्स दुल्लहा^१—धर्म का सुन पाना कठिन है । इसी बात को तथागत ने दुहराया है—किच्छं सद्धम्मसवनं^२—सद्धर्म का सुनना दुर्लभ है । यह इसी बात का प्रतीक है कि जिज्ञासा के साथ सुन पाना कठिन है ।

हजार निरर्थक वचन सुनने की अपेक्षा एक सारपूर्ण

वचन सुनना श्रेष्ठ है, और हजार कुतुहल प्रिय भीड़कारी श्रोताओं को अपेक्षा एक जिज्ञासु श्रोता श्रेष्ठ है। जिज्ञासु श्रोता मिलने पर श्रोता को भी आनन्द आता है और वक्ता को भी।

जान रस्किन, जिनकी पुस्तक 'अंटु दि लास्ट' के अध्ययन से गांधीजी ने 'सर्वोदय' नाम का संस्करण किया, एकबार किसी युनिवर्सिटी में भाषण देने गये। उनके नाम पर 'सभा भवन' खचाखच भर गया। भीड़ को उमड़ते देख 'सभा भवन' में घोषणा की गई, "रस्किन महोदय का भाषण कल के लिए स्थगित रखा जाता है।"

दूसरे दिन फिर भीड़ जमा हो गई, मगर पहले दिन से कम ! और पुनः वही घोषणा हुई—“भाषण कल के लिए स्थगित किया जाता है।” तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। आखिर चौथे दिन सभा भवन में केवल दस-बारह विद्यार्थी ही उपस्थित रहे। रस्किन मंच पर आये और बोले—“मित्रो ! काफी भीड़ छट चुकी है, आशा है अब हम अपने मतलब की बात ठीक से सुन सकेंगे।” ●

मोटी चादर

सत्पुरुष का संकल्प, वज्रमय होता है और हृदयनवनीत के समान ! वे अपने निश्चय में मेरु की तरह अचल, अभेद्य होते हैं, और संकल्प में वज्र के समान सुदृढ़ ! किंतु दूसरों का दुःख देखकर उनका कोमल दिल मक्खन की तरह पिघल जाता है, और वज्रसंकल्प के साथ उसे दूर करने के लिए पर दृढ़ हो जाते हैं ।

जैनाचार्य जिनभद्र ने साधुपुरुषों को इसीलिए —“णवणीय तुल्लहियया साहू”^१—नवनीत हृदय कहा है । आचार्य बुद्धघोष ने इसीलिए सत्पुरुषों की करुणा को ‘करुणा’ कहा है, चूंकि वह दूसरों के दुःख से हृदय को कंपा देती है—“पर दुक्खे सति साधूनं हृदय-कंपनं करोतीति करुणा । और—“किणाति वा पर-दुक्खं, हिंसति विनासेतीति करुणा ।”^२ दूसरों का दुःख

१. व्यवहारभाष्य ७।१६५

२. विसुद्धिमग्गो ६।६२

अपना सुख देकर खरीद लेती है, दूसरों के दुःख को नष्ट करने पर सर्वतोभोवन तुल जाती है, इसलिए वह करुणा है।

जैन जगत के ज्योतिर्मय नक्षत्र आचार्य हेमचन्द्र के जीवन का एक मधुर प्रसंग है।

एक बार आचार्य जन पद विहार करते हुए गुजरात की राजधानी पाटन में प्रवेश कर रहे थे। सम्राट कुमार पाल आचार्य के वरद आशीर्वाद से उसी वर्ष सिंहासन पर बैठे थे, और राज्यारोहण के बाद आचार्य का यह प्रथम प्रवेश था—परम भक्त सम्राट की राजधानी में।

आचार्य एक छोटे से गांव में ठहरे थे। वहां एक गरीब विधवा बहुत समय से आचार्य श्री के दर्शनों की अपलक प्रतीक्षा लिए बैठी थी—जैसे मीरा गिरधर श्याम की ! आचार्यश्री के दर्शनों से उसका रोम-रोम पुलक उठा, भक्ति की पावनी गंगा में उसने कल्मष धो डाले। और श्रद्धा-विह्वल हृदय से एक मोटी चादर हाथ में लिए प्रार्थना करने लगी—“गुरुदेव ! मैंने अपने शरीर से महनत करके स्वयं सूत काता और यह चादर तैयार की है, मेरी वर्षों से यह भावना थी कि यह चादर मैं आप जैसे महान संत को भिक्षा में दूँ ! प्रभो ! क्या मेरे हृदय की अमर साध पूरी होगी ?”

आचार्यश्री ने करुणा-स्निग्ध हाथ बढ़ाए, बहन ने श्रद्धा विभोर होकर चादर की भिक्षा दी। हर्ष के वेग से श्रद्धा

के आंसू फूलों की तरह चादर पर बिखर गये ।”

सम्राट कुमारपाल ने आचार्य के स्वागत का जोरदार तैयारियाँ की, और स्वयं स्वागत-आयोजन के पूर्व आचार्य की सेवा में पहुँचे ।

“प्रभो ! आपके दिव्य देह पर यह मोटी देहाती चादर अच्छी नहीं लगती ! यह श्वेत-कौशेय चादर ग्रहण कर मुझे उपकृत कीजिए” —सम्राट ने सलज्ज भावों से आचार्य को निवेदन किया ।

आचार्य की रहस्यभरी दृष्टि सम्राट की मुख-भंगिमा पर दौड़ गयी—“क्यों, इसमें क्या बात है ?”

“गुरुदेव ! आप तो निंदा-प्रशंसा से उपर उठ चुके हैं, किंतु हम संसारी प्राणी हर बात में अपनी प्रतिष्ठा देखते हैं, सम्राट के गुरु के देह पर यह चादर....जरा शर्म की बात है....हमारे लिए.... ।”

“शर्म ! कैसी शर्म.... ? मेरी चादर से सम्राट को शर्म आती है, और इस चादर के पीछे असंख्य-असंख्य दीन-विधवाओं की करुण-व्यथा छिपी है, उससे सम्राट को कोई सरोकार नहीं ?”—आचार्य की तेजदीप्त मुख मुद्रा से प्रचंड वाणी गूँज उठी ! “कुमारपाल ! इस चादर के एक-एक तार में श्रद्धा-विह्वल हृदय की धड़कन है, और है समाज की दीन-हीन दुःख भागिनी अबलाओं का करुण क्रंदन ! गरीबों की चादर से नहीं, गरीबी से सम्राट को शर्म आनी चाहिए । तुमने कभी उन अस-

हाय-अबलाओं के लिए सोचा है, जिनकी जिन्दगी का सहारा चादर के इन कच्चे धागों से बंधा है।”

आचार्यकी स्पष्ट चेतावनी से कुमारपाल का पितृवत् नृपत्व जाग उठा, और आचार्य के प्रथम स्वागत-समारोह में ही उसने राज्य की गरीब-असहाय महिलाओं की व्यवस्था के लिए कई करोड़ का फंड स्थापित करने की घोषणा की। ●

गुस्सा क्यों करूँ ?

एक आचार्य ने कहा है—

भुजंगमानां गरल-प्रसङ्गा-
न्नापेयतां यांति महासरांसि ॥^१

महासरोवर के उदर में हजारों नाग पड़े-पड़े करवटें लेते रहते हैं, फुंकारों से विष उगलते रहते हैं, किंतु फिर भी सरोवर का मधुर जल कभी दूषित नहीं होता। सत्पुरुषों का हृदय भी सरोवर की भांति है। अज्ञान और दुष्ट मनुष्यों के वचन रूप विष की फुहारें कभी भी उन के हृदय को अपवित्र नहीं बना सकती।

वस्तुतः ऐसे महापुरुष ही संसार में पूजनीय एवं वंदनीय हैं जो कानों में शूल की तरह चुभने वाले दुर्वचनों को भी हँस-हँस कर सह लेते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—

जो उ सहेज्ज गामकंटए वइमए कन्नसरे स पुज्जो ।^२

१. पद्मानंदमहाकाव्य

२. दशवैकालिक ६।३।६

जो कानों में तीर से लगने वाले वचनों को सहन करना जानता है, वह सचमुच ही क्षमाशील भिक्षु है।

स्वामी विवेकानन्द एक बार रेल यात्रा कर रहे थे। उन्हीं के डिब्बे में दो अंग्रेज यात्री भी बैठे थे। स्वामी जी अपनी मस्ती में थे। अंग्रेजों को उनका उपेक्षापूर्ण व्यवहार देखकर आक्रोश आया। एक तो हिन्दुस्तानी, और दूसरे गेरुआ वस्त्रधारी स्वामी जी को देखकर वे उनके बारे में परस्पर मजाक व अपमानजनक बातें करने लगे। बुरी-से बुरी गालियाँ देने में भी वे नहीं चूके।

एक स्टेशन आया तो स्वामीजी ने स्टेशन मास्टर को बुलाकर अंग्रेजी में कहा—“कृपया थोड़ा पानी मंगा दीजिए।” स्वामी जी की स्पष्ट व सुसंस्कृत अंग्रेजी सुनकर अंग्रेज मन-ही-मन शर्माए। वे जरा अफसोस के स्वर में बोले—“आप अंग्रेजी जानते हैं, तो फिर हम आप के सम्बन्ध में जो बातें कर रहे थे उन्हें सुनकर आपको गुस्सा नहीं आया? आप कुछ बोले क्यों नहीं?”

स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—“आप जैसे सज्जनों का संपर्क अनेक बार होता रहता है, गुस्सा करके अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करूँ? कांटों पर चलने से वे कभी चुभना छोड़ते नहीं, उनसे तो बचकर रहना ही समझदारी है।” ●

सब से बड़ा दान

दान-अमृत का भरना है ।

दान से न केवल कीर्ति एवं सम्मान ही बढ़ता है, किंतु मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि भी प्राप्त कर सकता है ।

शेखसादी ने कहा है—“जो आदमी धनी होकर कंजूस है, वह वास्तव में धन का कीड़ा है । और जो गरीब होकर भी दान करता है वह भगवान के बगीचे का प्यारा फूल है ।”

वस्तुतः जिसके पास सम्पत्ति का सागर भरा पड़ा है, वह यदि दो चार चुल्लुभर पानी किसी को दे दे तो उसकी भावना में वह परितृप्ति और आनन्दोर्मि नहीं उठ सकती, जो एक चुल्लुभर पानी में से भी कुछ बूंद देकर किसी की प्यास शांत करने में उठती है ।

प्राचीन भारत के नीतिद्रष्टा विदुर ने एक बार धृतराष्ट्र से कहा—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ।^१

“राजन् ! संसार में ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग से भी ऊपर स्थान पाते हैं—एक शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और दूसरा निर्धन होने पर भी दान देने वाला ।

एक बार पाटन के महामंत्री उदयन के पुत्र बाहड़ ने शत्रुंजय का जीर्णोद्धार करवाने का निश्चय किया । जनता की प्रार्थना पर बाहड़ ने—प्रत्येक गृहस्थ की श्रद्धा का अंश धन रूप में ग्रहण करने की स्वीकृति दी । सभी ने यथाशक्ति धन दिया ।

जीर्णोद्धार के बाद महामंत्री ने दान दाताओं की नामावली घोषित की तो सब से ऊपर भीम नामक एक मजदूर का नाम था । जिसने सहायता दी थी—“केवल सात पैसे ।”

जनता का आश्चर्य और जिज्ञासा देखकर मंत्रीवर ने सब को समाधान देते हुए बताया—“बंधुओ ! आपने और मैंने जो हजारों लाखों रुपये की सहायता दी है, वह अपने धन का एक भाग ही दिया है । किंतु भीम ने जो सात पैसे दिए हैं वह उसके जीवन की अब तक की पूंजी है,

१. महाभारत उद्योग० ३३।५८

जाने कितने दिनों की मजदूरी से उसने ये पैसे बचाकर इस पुण्य कार्य में दिए हैं, अतः मैंने उसका दान सबसे बड़ा दान माना है, शायद इस निर्णय में मुझसे कोई भूल तो नहीं हुई न ?”

मंत्रीवर का स्पष्टीकरण सुनकर लक्ष-दानी श्रेष्ठिजनों का सिर श्रद्धा से नीचे झुक गया । ●

हीरे मोती

सदाचार—जीवन का परम आभूषण है ।

जिस जीवन में स्नेह, करुणा, दया, और परोपकार की अमृतवर्षिणी नदियां प्रवाहित होती रहती हैं, वह जीवन संसार का सर्वश्रेष्ठ सुन्दर सुरम्य नन्दन कानन से भी अधिक रमणीय है ।

जैन परम्परा के अध्यात्मवादी महान संत आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

“शीलं मोक्खस्स सोवाणं”^१

शील—सदाचार ही मोक्ष का सोपान है ।

दया, करुणा और सेवा के उत्स से प्रवाहित होने वाले पवित्र विचार ही जीवन की श्रेष्ठ सुगन्ध हैं—

“विसुद्ध भावत्तणतो य सुगंधं”^२

१. अष्टपाहुड (शील) २०

२. नंदीसूत्र चूर्णि २।१३

पवित्र विचार ही जीवन की सुगंध है ।

तथागत बुद्ध ने इन्हीं पवित्र विचारों से प्रस्फुटित शील की किरणों को जीवन का परम आभूषण माना है।^१ जन-सेवा, एवं लोक कर्षणा के दिव्य अलंकारों से बढ़कर संसार में न कोई अलंकार है, न हीरे-मोती !

एक बार स्वीडेन के महाराज की बहन युजिनी के मन में जन सेवा की एक उदात्त लहर उठी, उसने अपने हीरे-मोती के बहुमूल्य आभूषणों की नीलामी करी, और उस धनराशि से गरीबों के लिए एक दवाखाना खुलवाया ।

एक दिन युजिनी दवाखाने में रोगियों से मिलने गई । वहां एक रोगी रोग मुक्त होकर हंसते हुए अपने घर जा रहा था । युजिनी को आते देखकर उस गरीब की आँखों में आभार के आँसू छलक उठे ।

युजिनी का मन प्रसन्नता से थिरक उठा । वह भाव विभोर होकर बोल पड़ी—“गरीबों की प्रसन्नता के ये आँसू ही मेरे हीरे-मोती के सच्चे अलंकार हैं ।” ●

उत्साह की विजय

उत्साह, जीवन की पहचान है। जिस मनुष्य का उत्साह ठंडा होगया, वह जीवित ही मर गया। उत्साह से आत्मविश्वास स्फूर्त होता है, और आत्म विश्वास-मनुष्य को हर परिस्थिति में आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देता है। भय, संकट एवं खतरे की आंधियों में भी जिसके आत्मविश्वास का अखंडदीप प्रज्वलित रहता है, विजय श्री उसके चरण चूमती है। भगवान महावीर से पूछा गया—“मनुष्य हारता क्यों है ? और विजेता कैसे बनता है ?”

भगवान महावीर ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—
“सवीरिए परयिणति, अवीरिए परायिज्जति”^१—शक्ति-शाली, उत्साह और विश्वाससंपन्न व्यक्ति जीतता है, और शक्तिहीन—निरुत्साही हार जाता है।

१. भगवती सूत्र

जैन इतिहास के प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रबन्धचिंतामणि' में गुर्जर नरेश सम्राट कुमारपाल के जीवन की एक घटना है।

एक बार कुमारपाल और सांभर के राजा सपादलक्ष जो कुमारपाल के बहनोई भी थे, दोनों के बीच भयंकर युद्ध छिड़ा। सपादलक्ष ने अपना पक्ष दुर्बल देखा, तो कुमारपाल के सामंत एवं सेनापतियों को विविध प्रलोभन देकर अपने जाल में फाँस लिया।

युद्ध शुरू हुआ। पर सम्राट् के सेनापतियों की ओर से शस्त्र चल नहीं रहे थे। कोई शस्त्र उठा रहा था तो बड़े अनमने ढंग से। सेना पीछे खिसकने लगी, तो सम्राट ने महावत से पूछा—“यह क्या हो रहा है, सेना पीछे हटती क्यों जा रही है?”

महावत स्थिति की गहराई को जान रहा था। उसने कहा—“आपके सामंत व सेनापति सांभर नरेश के चक्कर में आ गये हैं, सब बदल गये हैं।”

सुनते ही कुमारपाल की भुजाएं फड़क उठीं। उस का क्षात्रपौरुष जाग उठा—“सेना बदल गई है...? अच्छा... पर कुमारपाल तो नहीं बदला है? उसकी भुजाएं और तलवार तो नहीं बदली है....?”

सम्राट के आरक्त नयनों से अंगारे बरसने लगे। महावत ने कहा—“महाराज ! सब कुछ बदल सकता है,

पर आप अपने से नहीं बदलेंगे, और नहीं बदलेगा आपका यह सेवक !”

“तो फिर हाथी को आगे बढ़ने दो, कुमारपाल अकेला ही काफी है” सम्राट ने जोश खाकर अपनी तलवार संभाली, और शत्रु सेना पर टूट पड़े ।

कुमारपाल के अविजित आत्म-विश्वास की प्रतीक तलवार जब शत्रु सेना के मस्तकों पर बिजली की तरह गिरने लगी, तो शत्रु सेना भागने लग गई । सम्राट के अटूट साहस और सामर्थ्य का चमत्कार देख दल के सैनिक एवं सेनापति भी युद्ध में कूद पड़े, और कुछ ही क्षणों में धूर्त सपादलक्ष बंदी बनकर सम्राट के चरणों में आ गिरा ।

कुमारपाल के अचल आत्म-विश्वास एवं अपराजेय उत्साह की यह कहानी आज भी गुजरात के इतिहास में अमर है ।

जब प्रेम उठाने वाला हो....

संस्कृत की एक सूक्ति है—

तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ।

जिसका मन, जहाँ लग गया, जिसका हृदय जिससे जुड़ गया, उसके लिए वही मधुर है, वही स्वर्ग का टुकड़ा है ।

मन में जब स्नेह होता है, तो मरुथल के रेगिस्तान में कमल खिल उठते हैं । मन में जब प्रेम होता है, तो संसार के समस्त कष्ट, आनन्द के स्रोत बन जाते हैं ।

वस्तुतः स्नेह एवं प्रेम के समक्ष कुछ भी कठिन नहीं, कुछ भी दुःसह नहीं ।

‘महादेव भाई की डायरी’ में गांधीजी के पत्र का एक अंश उद्धृत किया गया है ।

एक बार गोविंदराघव ने एक छोटा-सा पत्र गांधीजी के पास भेजा । उसने लिखा—“विशप नाम का युवक

पहाड़ी पर चढ़ रहा था। उस समय एक छः सात वर्ष की लड़की अपने दो साल के भाई को कंधे पर लेकर पहाड़ी पर चढ़ती हुई हांफ रही थी। विशप ने पूछा—“अरे, यह लड़का तो तेरे लिए बहुत भारी है? कैसे उठा सकेगी इसे तू?”

लड़की ने जबाव दिया—“जरा भी भारी नहीं है, यह तो मेरा भाई है।”

इस पर बापू ने लिखा—“आपका प्रेम पूर्ण पत्र मिला। कितना महान् विचार है—“यह भारी नहीं, यह तो मेरा भाई है।” भारी-से-भारी चीज भी पंख-जैसी हलकी बन जाती है, जब प्रेम उसे उठाने वाला होता है।”

लड़की ने अपने एक वचन से एक बड़ा काव्य बना डाला। बापू ने उस पर दो पंक्तियों का महाभाष्य कर दिया। ●



लेखक की महत्त्वपूर्ण कृतियां



- १ ऋषभदेव : एक परिशीलन (शोध प्रबन्ध) मूल्य ३ रु.
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी आगरा-२.
- २ धर्म और दर्शन : (निबन्ध) मूल्य ४ रु.
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी आगरा-२.
- ३ भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
(शोध प्रबन्ध) मूल्य ५ रु.
प्रकाशक—पं० मुनि श्रीमल प्रकाशन,
जैन साधना सदन, २५६ नानापेठ पूना-२.
- ४ साहित्य और संस्कृति—(निबन्ध) मूल्य १० रु.
प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन,
पो. बॉक्स १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी-१.
- ५ चिन्तन की चाँदनी : (उद्बोधक चिन्तन सूत्र)
मूल्य ३ रु.
प्रकाशक—श्री तारक गुरु ग्रन्थालय, पदराड़ा,
जिला उदयपुर (राजस्थान)
- ६ अनुभूति के आलोक में (मौलिक चिन्तन सूत्र),
मूल्य ४ रु.
प्रकाशक—श्री तारक गुरु ग्रन्थालय, पदराड़ा,
जिला उदयपुर (राजस्थान)

- ७ संस्कृति के अंचल में (निबन्ध) मूल्य १.५०
प्रकाशक—सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल, जोधपुर
- ८ कल्पसूत्र : मूल्य राजसंस्करण २० रु०. साधारण १६.
प्रकाशक—श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान,
गढ़सिवाना, जिला बाडमेर (राज०)
- ९ फूल और पराग : (कहानियाँ) मूल्य १.५०,
प्रकाशक—श्री तारक गुरु ग्रंथालय, पदराडा,
जिला उदयपुर (राज०)
- १० खिलता कलियाँ मुस्कराते फूल : (लघुकथा)
मूल्य ३.५० पैसे
प्रकाशक—श्री तारक गुरु ग्रंथालय, पदराडा
जिला उदयपुर (राज०)
- ११ अनुभवरत्न कणिका (गुजराती चिन्तन सूत्र)
मूल्य २ रु.
सन्मति साहित्य प्रकाशन, व० स्थानकवासी जैनसंघ,
उपाश्रय लेन, घाटकोपर, बम्बई-८६
- १२ चिन्तन नी चाँदनी : (गुजराती भाषा में) मूल्य ४ रु.
प्रकाशक—लक्ष्मी पुस्तक भंडार, गांधी मार्ग
अहमदाबाद
सम्पादित
- १३ जिन्दगी की मुस्कान (प्रवचन संग्रह) मू० १.४०
१४ जिन्दगी की लहरें " " २.५०
१५ साधना का राजमार्ग " " २.५०

- १६ राम राज : (राजस्थानी प्रवचन) मूल्य १ रु.
- १७ मिनखपणा रौ मोल " " १ रु.
सभी के प्रकाशक—सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल,
जोधपुर (राजस्थान)
- १८ ओंकार : एक अनुचिन्तन : मूल्य १ रु.
- १९ नेमवाणी : (कविवर पं० नेमिचन्द जी महाराज की
कविताओं का संकलन । मूल्य २.५०
प्रकाशक—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराडा,
उदयपुर (राजस्थान)
- २० जिन्दगी नो आनन्द : (गुजराती प्रवचन) मू० ३.२५
- २१ जीवन नो भंकार : " ४.५०
- २२ सफल जीवन : " ३.७५
- २३ स्वाध्याय : " ०.५०
- २४ धर्म अने संस्कृति : (गुजराती निबन्ध) ४ रु.
इन सभी के प्रकाशक—लक्ष्मी पुस्तक भण्डार,
गांधीमार्ग, अहमदाबाद-१
- २५ मानव बनो : अमूल्य
प्रकाशक—बुधवीर स्मारक मण्डल जोधपुर

शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ—

- २६ भगवान् अरिष्टनेमि और श्री कृष्ण
२७ कल्पसूत्र (गुजराती संस्करण)

- २८ विचार रश्मियाँ
 २९ चिन्तन के क्षण
 ३० महावीर जीवन दर्शन
 ३१ महावीर साधना दर्शन
 ३२ महावीर तत्त्व दर्शन
 ३३ अतीत के कम्पन
 ३४ सांस्कृतिक सौन्दर्य
 ३५ आगम मंथन
 ३६ स्मृति चित्र
 ३७ अन्तगड दशा सूत्र
 ३८ अनेकांतवाद : एक मीमांसा
 ३९ संस्कृति रा सुर
 ४० अणविंध्या मोती
 ४१ जैन लोक कथाएँ (नो भाग)
 ४२ जैन धर्म : एक परिचय
 ४३ ज्ञाता सूत्र : एक परिचय
 ४४ महासतीश्री साहेबकुंवर जी : व्यक्तित्व और कृतित्व

मुनि श्री के सभी प्रकाशन निम्न पते पर प्राप्त हो सकेंगे ।

श्री लक्ष्मी पुस्तक भण्डार

गांधी मार्ग, अहमदाबाद-१

लेखक की महत्वपूर्ण कृतियाँ



भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
भगवान् अरिष्टनेमी और श्रीकृष्ण
खिलती कलियाँ मुस्कराते फूल
ऋषभदेव : एक परिशीलन
ओंकार : एक अनुचिन्तन
अनुभूति के आलोक में
साहित्य और संस्कृति
अनुभव रत्न करिणिका
साधना का राजमार्ग
मिनख पणारी मोल
जिन्दगी की मुस्कान
संस्कृति के अंचल में
चिन्तन की चांदनी
जिन्दगी की लहरें
फूल और पराग
धर्म और दर्शन
नेम बाणी
राम राज
कल्पसूत्र

